

- Brief Introduction of Dharma and its nature
- Antiquity of Jainism
- Concept of Kalchakras and details of Kulkaras
- Concept of Tirthankar (Diff. between a Tirthankar kevli and Samanya kevli)
- Prehistoric and historic evidence of Tirthankars.

जैन धर्म क्या है?

1. 'जैन धर्म' का एक अधिक महत्वपूर्ण अर्थ है—'जिन द्वारा बताया गया धर्म'। अर्थात् जिन महापुरुषों ने अपने आत्मिक विकारों पर विजय प्राप्त करके 'जिन' अवस्था प्राप्त की और जो धर्म का उपदेश देते हैं, उनके द्वारा बताए गए मार्ग को जैन धर्म कहा जाता है। 'जिन' का अर्थ है—विजेता, अर्थात् जिसने अपने राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे आंतरिक विकारों पर विजय प्राप्त कर ली हो। जैन दर्शन के अनुसार "जिन" ईश्वर के अवतार नहीं होते, बल्कि अपने पुरुषार्थ और साधना से स्वयं जिन अवस्था प्राप्त करते हैं। इसलिए जैन धर्म में आत्म-विजय, आत्मसंयम और आत्मशुद्धि को विशेष महत्व दिया गया है।
2. जैन दर्शन का मूल विश्वास है कि प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा बन सकती है। जीवात्मा और परमात्मा में मूल अंतर केवल इतना है कि जीवात्मा कर्मों, राग-द्वेष और क्रोध आदि विकारों से बंधी हुई होती है। इन कर्मों के कारण उसके स्वाभाविक गुण—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य—प्रकट नहीं हो पाते। जब जीव सभी कर्मों का नाश कर देता है, तब वही परमात्मा और जिन बन जाता है।
3. जिन अवस्था प्राप्त करने पर जीव सर्वज्ञ और वीतराग हो जाता है। उसे समस्त पदार्थों का पूर्ण ज्ञान होता है और उसके भीतर से राग तथा द्वेष पूरी तरह समाप्त हो जाते हैं। इसलिए जिन का उपदेश प्रमाणिक और विश्वसनीय माना जाता है।
4. जिन की सत्यवादिता का प्रमुख प्रमाण स्याद्वाद है। स्याद्वाद वस्तु के विभिन्न पक्षों को ध्यान में रखकर सत्य को समझने और दूसरों के विचारों के साथ न्याय करने का मार्ग बताता है। इसलिए जैन धर्म के विचार पक्ष का मूल स्याद्वाद और आचार पक्ष का मूल अहिंसा है। इसका उद्देश्य है कि न तो किसी के विचारों के साथ अन्याय हो और न ही किसी प्राणी के जीवन को हानि पहुँचे।
5. जिन किसी व्यक्ति, जाति, वर्ग या संप्रदाय विशेष के हित के लिए उपदेश नहीं देते, बल्कि सभी प्राणियों के कल्याण की शिक्षा देते हैं। उनका उपदेश केवल मनुष्यों तक सीमित नहीं है, बल्कि स्थावर और जंगम सभी जीवों के प्रति करुणा और संरक्षण की भावना रखता है। इसलिए जैन धर्म का मूल संदेश "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" — किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो है।

6. जिन की **वीतराग और समदर्शी दृष्टि** में सभी जीव समान हैं। वे न किसी जाति या वर्ग को विशेष मानते हैं और न किसी से घृणा करने की शिक्षा देते हैं। इस प्रकार **वीतरागता, सर्वज्ञता, सत्य, स्याद्वाद और अहिंसा** जिन के उपदेश के प्रमुख आधार हैं। जिन द्वारा दिया गया यही हितकारी और सार्वभौमिक उपदेश **जैन धर्म** कहलाता है। जिन महापुरुषों ने अपने पुरुषार्थ से अज्ञान और राग-द्वेष को दूर करके सर्वज्ञता प्राप्त की, उनके अनुभवों और उपदेशों का सार ही **जैन धर्म** है।

धर्म का अर्थ

‘धर्म’ शब्द के मुख्यतः **दो अर्थ** हैं। पहला अर्थ है **वस्तु का स्वभाव** जैसे अग्नि का जलाना, पानी की शीतलता, वायु का बहना और आत्मा का चैतन्य—ये सभी उनके स्वाभाविक धर्म हैं। इस अर्थ में प्रत्येक जड़ और चेतन पदार्थ का अपना धर्म होता है, क्योंकि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका कोई स्वभाव न हो।

दूसरा अर्थ है **आचार या चारित्र**, अर्थात् ऐसा आचरण जिससे **अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष)** की प्राप्ति हो। यह धर्म केवल चेतन आत्मा से संबंधित है, क्योंकि आचरण करने की क्षमता आत्मा में ही होती है। इसलिए सामान्यतः धर्म का संबंध आत्मा और उसके आचरण से माना जाता है।

धर्म के **स्वभावरूप और आचाररूप दोनों पक्ष** एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। प्रत्येक महान धर्मप्रवर्तक ने केवल आचार का उपदेश नहीं दिया, बल्कि वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को समझाने का भी प्रयास किया। इसी से प्रत्येक धर्म का अपना **दर्शन** भी होता है।

दर्शन में आत्मा, परमात्मा, संसार, परलोक और ईश्वर जैसे मूल प्रश्नों पर विचार किया जाता है, जबकि **धर्म** आत्मा को शुद्ध करके परमात्मा बनने का मार्ग बताता है। इसलिए दर्शन और धर्म अलग विषय होते हुए भी **परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित** हैं।

दर्शन और धर्म का संबंध

आचार को सही ढंग से अपनाने के लिए **आत्मा के स्वभाव और उसके लक्ष्य** को समझना आवश्यक है। जैसे सोने के गुण और स्वभाव को जाने बिना उसे शुद्ध करने का प्रयास सफल नहीं हो सकता, वैसे ही आत्मा के स्वरूप को जाने बिना किया गया आचार भी पूरी तरह लाभकारी नहीं हो सकता।

मनुष्य का **विचार उसके आचार को प्रभावित करता है**। जो व्यक्ति आत्मा और परलोक को नहीं मानता, उसका जीवन सामान्यतः भोगप्रधान हो सकता है। इसके विपरीत, जो आत्मा, परलोक और कर्मफल में विश्वास करता है, उसका आचरण संयम और नैतिकता पर आधारित होता है। इसलिए **दर्शन और धर्म का गहरा संबंध** है और एक को समझे बिना दूसरे को पूरी तरह समझना कठिन है।

जैन धर्म का अपना दर्शन है, जिसे **जैन दर्शन** कहा जाता है। इसमें आत्मा, जगत और वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का विचार किया जाता है, जबकि धर्म आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग बताता है। इसलिए जैन धर्म में **विचार और आचार दोनों महत्वपूर्ण** हैं।

साध्य और साधनरूप धर्म

धर्म को दूसरे रूप में दो भागों में समझा जा सकता है—साध्यरूप धर्म और साधनरूप धर्म। परमात्मत्व की प्राप्ति साध्यरूप धर्म है, जबकि आचार या चारित्र साधनरूप धर्म है। आचार और चारित्र के माध्यम से ही आत्मा शुद्ध होकर परमात्मा बनती है। इसलिए जैन धर्म में साध्य और साधन दोनों का वर्णन आवश्यक है।

जैन दर्शन का प्राण — अनेकान्तवाद

जैन दर्शन में अनेकान्तवाद या स्याद्वाद को विचार का मूल माना जाता है। अनेकान्तवाद का अर्थ है कि किसी वस्तु को केवल एक ही दृष्टि से पूरी तरह नहीं समझा जा सकता; उसके अनेक पक्ष होते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार संसार के मूलभूत तत्त्व छः द्रव्यों में विभाजित हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव चेतन है और शेष पाँच अजीव हैं। संसार में जो कुछ अस्तित्व रखता है, उसका समावेश इन्हीं द्रव्यों में हो जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार सत् ही द्रव्य का लक्षण है। गुण, क्रिया और संबंध आदि द्रव्य से अलग स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं, बल्कि द्रव्य की अवस्थाएँ या विशेषताएँ हैं। इसी प्रकार असत् या अभाव को कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं माना जाता।

वस्तु का अनेकान्त स्वरूप

जैन दृष्टि में कोई वस्तु केवल सत् या केवल असत् नहीं होती। वह एक दृष्टि से सत् और दूसरी दृष्टि से असत् हो सकती है। उदाहरण के लिए, घट और पट दोनों वस्तुएँ हैं, लेकिन घट, घट है—पट नहीं; और पट, पट है—घट नहीं। दोनों का अस्तित्व अपनी-अपनी मर्यादा तक सीमित है।

इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप, गुण और मर्यादा में अस्तित्व रखती है। किसी वस्तु को एक ही पक्ष से पूर्ण सत्य मान लेना उचित नहीं है। यही विचार आगे चलकर जैन दर्शन के अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का आधार बनता है।

अनेकान्तवाद में सत् और असत् का अर्थ

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप की अपेक्षा से सत् और पर-स्वरूप की अपेक्षा से असत् होती है। यदि सभी वस्तुओं को हर रूप में सत् मान लिया जाए, तो सभी वस्तुओं का भेद समाप्त हो जाएगा और संकर दोष उत्पन्न होगा। इसलिए प्रत्येक वस्तु अपने विशेष स्वभाव और सीमा में ही अस्तित्व रखती है।

इसे घट और पट के उदाहरण से समझा जा सकता है। घट का अपना स्वभाव है और पट का अपना। घट का कार्य घट ही कर सकता है, पट नहीं। इसलिए घट, अपने स्वरूप की अपेक्षा से सत् है और पट के स्वरूप की अपेक्षा से असत् है। इसी प्रकार पट अपने स्वरूप की अपेक्षा से सत् और घट के स्वरूप की अपेक्षा से असत् है।

इसी बात को व्यक्ति के संबंधों से भी समझ सकते हैं। **देवदत्त का पुत्र**, संसार के सभी मनुष्यों का पुत्र नहीं है; उसी प्रकार देवदत्त संसार के सभी पुत्रों का पिता नहीं है। इसलिए कोई वस्तु किसी विशेष संबंध या स्वरूप की अपेक्षा से 'है' और दूसरी अपेक्षा से 'नहीं है'। इसका अर्थ यह नहीं कि वस्तु एक ही समय और एक ही दृष्टि से सत् और असत् दोनों है।

अतः जैन दर्शन का कथन **“वस्तु सत् भी है और असत् भी”** विरोधाभास नहीं है। इसका अर्थ है कि वस्तु **अपने स्वरूप से सत् और पररूप से असत्** है। इस प्रकार अनेकान्तवाद वस्तु के विभिन्न पक्षों को ध्यान में रखकर सत्य को समझने का प्रयास करता है।

Concept of Tirthankar (Diff. between a Tirthankar kevali and Samanya kevali)

जैन धर्म के प्रवर्तक और पंचपरमेष्ठी

जैन धर्म को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि जैन परंपरा में धर्म के प्रवर्तन और आध्यात्मिक उपलब्धि को किस प्रकार समझा गया है। जैन दर्शन में धर्म किसी एक व्यक्ति द्वारा पहली बार बनाया गया सिद्धांत नहीं माना जाता। धर्म का मूल स्वरूप आत्मा की शुद्धि और कर्मों से मुक्ति के मार्ग से जुड़ा हुआ है। जब किसी काल में यह मार्ग लोगों के लिए स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं रहता, तब तीर्थंकर अपने केवलज्ञान के आधार पर धर्मतीर्थ का पुनः प्रवर्तन करते हैं। इस दृष्टि से तीर्थंकर किसी नए धर्म का निर्माण करने वाले व्यक्ति मात्र नहीं हैं, बल्कि वे उस आध्यात्मिक मार्ग को पुनः प्रकाशित करने वाले होते हैं, जिसके द्वारा जीव संसार से मुक्ति की दिशा में आगे बढ़ सकता है।

जैन धर्म में **केवलज्ञान और धर्मप्रवर्तन** के बीच भी एक महत्वपूर्ण अंतर किया जाता है। प्रत्येक केवलज्ञानी का कार्य धर्म का प्रवर्तन करना आवश्यक नहीं है। केवलज्ञान आत्मा की पूर्ण ज्ञानात्मक अवस्था को दर्शाता है, जबकि तीर्थंकर वह हैं जो केवलज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ **धर्मतीर्थ की स्थापना और संघ की व्यवस्था** करते हैं। वे साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन चारों प्रकार के अनुयायियों के लिए धर्ममार्ग को व्यवस्थित करते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर की भूमिका केवल स्वयं मोक्ष प्राप्त करने तक सीमित नहीं रहती, बल्कि वे अन्य जीवों के लिए भी मुक्ति का मार्ग सुलभ बनाते हैं।

इसी संदर्भ में **तीर्थ** की अवधारणा को समझना उपयोगी है। सामान्य अर्थ में तीर्थ ऐसा स्थान माना जाता है जहाँ जाकर व्यक्ति पवित्रता या आध्यात्मिक शांति प्राप्त करता है, लेकिन जैन दर्शन में तीर्थ का अर्थ इससे अधिक गहरा है। यहाँ तीर्थ का संबंध उस **धर्ममार्ग से है जिसके माध्यम से जीव संसार-सागर को पार करके मोक्ष की ओर बढ़ता है**। तीर्थंकर इस धर्मतीर्थ को व्यवस्थित रूप देते हैं। इसलिए तीर्थंकर की महत्ता केवल उनके व्यक्तिगत आध्यात्मिक ज्ञान के कारण नहीं है, बल्कि इस कारण भी है कि वे उस ज्ञान को जीवों के कल्याण के लिए व्यवस्थित धर्मशासन के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

जैन परंपरा में तीर्थंकर के साथ **चतुर्विध संघ** की स्थापना का भी विशेष महत्व है। यह संघ चार अंगों से मिलकर बना है—**साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका**। साधु और साध्वी संन्यास तथा कठोर आध्यात्मिक अनुशासन का पालन करते हैं, जबकि श्रावक और श्राविका गृहस्थ जीवन में रहते हुए जैन धर्म के सिद्धांतों और व्रतों का पालन करते हैं। इस प्रकार जैन धर्म में आध्यात्मिक साधना केवल संन्यासियों तक सीमित नहीं रहती। गृहस्थ भी अपने जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे मूल्यों को अपनाकर आध्यात्मिक प्रगति कर सकता है। यही चतुर्विध संघ तीर्थंकर द्वारा स्थापित धर्मतीर्थ को सामाजिक और धार्मिक रूप से आगे बढ़ाता है।

अब हम जैन धर्म के **पंचपरमेष्ठी** की अवधारणा को समझते हैं। नमस्कार महामंत्र में पाँच आध्यात्मिक पदों को नमस्कार किया जाता है—**अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु**। इन पाँचों को सामूहिक रूप से पंचपरमेष्ठी कहा जाता है। यहाँ इन पदों को केवल धार्मिक उपाधियों के रूप में नहीं देखना चाहिए, बल्कि इन्हें **आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं और भूमिकाओं** के रूप में समझना चाहिए।

अरिहंत वह अवस्था है जिसमें आत्मा ने चार घातिया (जो आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और शक्ति जैसे मूल गुणों को बाधित करते हैं) कर्मों—ज्ञानावरणीय (जो ज्ञान को ढकता है), दर्शनावरणीय (जो दर्शन/जानने की सामान्य क्षमता को ढकता है), मोहनीय (जो आत्मा में मोह और आसक्ति उत्पन्न करता है) और अंतराय कर्म (जो आत्मा की शक्ति और कार्य करने की क्षमता में बाधा डालता है) —का क्षय कर लिया है और केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त कर लिया है। अरिहंत अभी शरीरधारी होते हैं, इसलिए वे संसार में रहते हुए भी कर्मों से अत्यंत उच्च स्तर की मुक्ति प्राप्त कर चुके होते हैं। तीर्थंकर अरिहंत की ही एक विशेष अवस्था है, जिसमें वे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

इसके बाद **सिद्ध** की अवस्था आती है। सिद्ध वह आत्मा है जिसने सभी कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय कर लिया है। अरिहंत अवस्था में आत्मा शरीर के साथ रहती है, जबकि सिद्ध अवस्था में शरीर और संसार से पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिए सिद्ध आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र से पूरी तरह मुक्त होती है। जैन दर्शन में मोक्ष का अंतिम अर्थ इसी सिद्ध अवस्था की प्राप्ति है।

आचार्य और **उपाध्याय** का संबंध जैन साधु-संघ और ज्ञान की परंपरा से है। आचार्य संघ के अनुशासन, व्यवस्था और साधना का मार्गदर्शन करते हैं। वे स्वयं साधना करते हुए अन्य साधुओं को भी धार्मिक आचरण की दिशा प्रदान करते हैं। उपाध्याय का मुख्य संबंध अध्ययन और अध्यापन से है। वे आगम और जैन सिद्धांतों का अध्ययन करते हैं तथा अन्य साधुओं और साधकों को उनका ज्ञान प्रदान करते हैं। इस प्रकार आचार्य और उपाध्याय दोनों जैन धर्म की परंपरा के संरक्षण और प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

साधु पंचपरमेष्ठी का वह पद है जो साधना के आरंभ और निरंतर आध्यात्मिक प्रयास से जुड़ा हुआ है। साधु गृहस्थ जीवन का त्याग करके संयम और आत्मशुद्धि के मार्ग को अपनाता है। उसका उद्देश्य केवल बाहरी जीवन में परिवर्तन करना नहीं, बल्कि राग, द्वेष, मोह और कर्मबंध के कारणों को धीरे-धीरे समाप्त करना है। इस दृष्टि से साधुत्व जैन धर्म में आत्मविजय की व्यावहारिक साधना का महत्वपूर्ण रूप है।

पंचपरमेष्ठी की अवधारणा को यदि हम एक क्रम के रूप में देखें, तो इसमें जैन धर्म की आध्यात्मिक दृष्टि स्पष्ट होती है। **साधु साधना और संयम का प्रतिनिधित्व करता है, उपाध्याय ज्ञान और अध्ययन का, आचार्य अनुशासन और संघ-व्यवस्था का, अरिहंत पूर्ण ज्ञान और वीतरागता का तथा सिद्ध पूर्ण कर्ममुक्ति और मोक्ष का।** इस प्रकार पंचपरमेष्ठी केवल पाँच पदों की सूची नहीं है, बल्कि जैन धर्म में आध्यात्मिक विकास, ज्ञान, अनुशासन और मुक्ति की पूरी दिशा को समझने का एक माध्यम है।

इस पूरी व्यवस्था का केंद्र **आत्मा की शुद्धि** है। जैन धर्म में साधना का अंतिम उद्देश्य किसी बाहरी शक्ति से कोई विशेष वरदान प्राप्त करना नहीं, बल्कि आत्मा में विद्यमान शुद्ध गुणों को प्रकट करना है। कर्मों के कारण आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति जैसे गुण आवृत माने जाते हैं। साधना के द्वारा कर्मों का क्षय होता है और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप की ओर बढ़ती है। इसीलिए जैन धर्म की धार्मिक साधना को केवल पूजा-पद्धति के रूप में समझना पर्याप्त नहीं है; इसके पीछे एक गहरी **आत्मवादी और कर्मवादी दार्शनिक दृष्टि** काम करती है।

नमस्कार महामंत्र की विशेषता भी इसी दृष्टि से समझी जा सकती है। इसमें किसी एक ऐतिहासिक व्यक्ति की प्रशंसा या किसी एक व्यक्ति से कृपा की अपेक्षा प्रमुख नहीं है। इसके स्थान पर उन आध्यात्मिक अवस्थाओं और गुणों को नमस्कार किया जाता है जिन्हें साधना के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार पंचपरमेष्ठी जैन धर्म के लिए **आदर्श आध्यात्मिक अवस्थाओं और साधना-मार्ग के प्रतीक** बन जाते हैं।

इस प्रकार जैन धर्म के प्रवर्तन की अवधारणा को केवल “किसने जैन धर्म शुरू किया?” जैसे प्रश्न तक सीमित नहीं करना चाहिए। जैन दृष्टि में अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि **धर्मतीर्थ किस प्रकार स्थापित होता है, तीर्थंकर की भूमिका क्या है, संघ किस प्रकार निर्मित होता है और साधक किस प्रकार आत्मशुद्धि की दिशा में आगे बढ़ता है।** इसी क्रम में पंचपरमेष्ठी की अवधारणा हमें जैन धर्म के आध्यात्मिक आदर्श, संघ-व्यवस्था, ज्ञान-परंपरा और मोक्षमार्ग को एक साथ समझने का अवसर देती है।

तीर्थंकर, केवलज्ञानी और तीर्थंकर की विशेषताएँ

जैन धर्म में साधना का मुख्य उद्देश्य **कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करना और आत्मा के शुद्ध गुणों का विकास करना** है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा में अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत शक्ति जैसे गुण स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं, लेकिन कर्मों के बंधन के कारण ये गुण पूरी तरह प्रकट नहीं हो पाते। साधना के माध्यम से व्यक्ति धीरे-धीरे कर्मों के प्रभाव को कम करता है और आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है। इसलिए जैन धर्म में किसी व्यक्ति विशेष को केवल इसलिए नमस्कार नहीं किया जाता कि वह कोई महान व्यक्ति है, बल्कि उसके द्वारा प्राप्त **आध्यात्मिक गुणों और उपलब्धियों** को महत्व दिया जाता है। यही दृष्टि नमस्कार महामंत्र में भी दिखाई देती है।

तीर्थंकर का अर्थ

‘तीर्थकर’ जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। नमस्कार महामंत्र के प्रथम पद में जिन अरिहंतों को नमस्कार किया गया है, उनमें तीर्थकर विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। सरल शब्दों में कहा जाए तो तीर्थकर वह है जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करता है और जीवों को संसार से मुक्ति का मार्ग दिखाता है।

‘तीर्थ’ का सामान्य शाब्दिक अर्थ **घाट** होता है। जैसे नदी या समुद्र को पार करने के लिए घाट का सहारा लिया जाता है, उसी प्रकार जैन दर्शन में संसाररूपी समुद्र को पार करने के लिए धर्म और साधना का मार्ग **तीर्थ** कहा जाता है। तीर्थकर इस तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों और साधना-पद्धति का पालन करते हुए साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ते हैं और जन्म-मरण के संसार-चक्र से मुक्त होकर **सिद्धत्व** की दिशा में बढ़ते हैं।

तीर्थकर केवल धर्म का उपदेश देने वाले व्यक्ति नहीं होते। वे **धर्म के मूल सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं**, उन्हें स्पष्ट रूप से समझाते हैं और उनके आधार पर आगे चलकर शास्त्रों तथा धार्मिक परंपरा का विकास होता है। इसलिए तीर्थकर की भूमिका व्यक्तिगत मुक्ति तक सीमित नहीं रहती। वे स्वयं आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं और साथ ही अन्य जीवों के लिए भी मुक्ति का मार्ग व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करते हैं।

केवलज्ञानी और तीर्थकर

जैन दर्शन में **केवलज्ञानी** और **तीर्थकर** दोनों महत्वपूर्ण आध्यात्मिक अवस्थाओं से संबंधित शब्द हैं। ज्ञान की दृष्टि से दोनों में कोई कमी-अधिकता नहीं मानी जाती, क्योंकि दोनों को **केवलज्ञान** प्राप्त होता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक केवलज्ञानी तीर्थकर होता है। यही दोनों के बीच सबसे महत्वपूर्ण अंतर है।

एक व्यक्ति केवलज्ञान प्राप्त करके स्वयं कर्मों से मुक्त होने की दिशा में आगे बढ़ सकता है, लेकिन तीर्थकर वह विशेष आत्मा है जो केवलज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ **धर्मतीर्थ का प्रवर्तन** करती है। इसलिए कहा जा सकता है कि **हर तीर्थकर केवलज्ञानी होता है, लेकिन हर केवलज्ञानी तीर्थकर नहीं होता।**

तीर्थकरों की कुछ विशेष विशेषताएँ जैन परंपरा में बताई गई हैं। इनमें से पहली विशेषता है कि तीर्थकर का जन्म **तीर्थकर-नामकर्म** के उदय से संबंधित माना जाता है। अर्थात् उनके पूर्वकृत पुण्य और आध्यात्मिक साधना के परिणामस्वरूप तीर्थकर-नामकर्म का बंध होता है और उसके उदय से वे तीर्थकर के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

दूसरी विशेषता यह है कि तीर्थकरों का स्थान **नमस्कार महामंत्र के प्रथम पद में आने वाले अरिहंत पद** से संबंधित है। वे केवलज्ञान प्राप्त करके वीतराग अवस्था (State of complete detachment / passionlessness) को प्राप्त करते हैं और धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

तीसरी विशेषता है कि तीर्थकर **स्वयंबुद्ध** होते हैं। इसका अर्थ यह है कि उन्हें अपने अंतिम आध्यात्मिक ज्ञान के लिए किसी अन्य व्यक्ति से शिक्षा या बोध प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। वे स्वयं अपने पुरुषार्थ और आध्यात्मिक उपलब्धि के द्वारा केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। इसीलिए उन्हें “स्वयंबुद्ध” कहा जाता है।

चौथी और सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है कि तीर्थंकर **तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं**। केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद वे अपने ज्ञान को लोककल्याण के लिए उपलब्ध कराते हैं और जीवों को मुक्ति का मार्ग बताते हैं। उनके उपदेशों के आधार पर धर्मशासन और चतुर्विध संघ की व्यवस्था स्थापित होती है।

पाँचवीं विशेषता है कि तीर्थंकरों के **गणधर** होते हैं। गणधर वे प्रमुख शिष्य होते हैं जो तीर्थंकर के उपदेशों को ग्रहण करते हैं, उन्हें व्यवस्थित करते हैं और आगे की धार्मिक एवं शास्त्रीय परंपरा के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर और गणधर के माध्यम से जिनवाणी की परंपरा आगे बढ़ती है।

छठी विशेषता **पंच कल्याणक** से संबंधित है। जैन परंपरा में तीर्थंकर के जीवन से जुड़े पाँच महत्वपूर्ण अवसरों को **पंच कल्याणक** कहा जाता है। ये हैं—**गर्भ कल्याणक (Conception / Embryonic Auspicious Event)**, **जन्म कल्याणक (Birth Auspicious Event)**, **दीक्षा कल्याणक (Renunciation / Initiation Auspicious Event)**, **केवलज्ञान कल्याणक (Attainment of Omniscience Auspicious Event)** और **निर्वाण कल्याणक (Liberation / Nirvāṇa Auspicious Event)**। इन पाँचों अवसरों को तीर्थंकर के आध्यात्मिक जीवन की महत्वपूर्ण अवस्थाओं के रूप में देखा जाता है।

सातवीं विशेषता के रूप में जैन परंपरा में तीर्थंकर के जन्म से संबंधित **अवधिज्ञान** का उल्लेख मिलता है। अवधिज्ञान को एक प्रकार का अतीन्द्रिय ज्ञान माना जाता है, जिसके द्वारा कुछ सीमित प्रकार की भौतिक वस्तुओं और घटनाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव होता है। तीर्थंकरों के संबंध में इस प्रकार की विशेष ज्ञानात्मक क्षमता का वर्णन जैन आगमिक और परंपरागत साहित्य में मिलता है।

आठवीं विशेषता तीर्थंकर की माता द्वारा देखे गए **चौदह शुभ स्वप्नों** से संबंधित है। जैन परंपरा के अनुसार तीर्थंकर के गर्भ में आने से पहले उनकी माता को विशेष शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं। इन स्वप्नों को आने वाले महान आध्यात्मिक व्यक्तित्व के शुभ संकेत के रूप में समझा जाता है।

इन विशेषताओं को समझते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि **इनमें से सभी विशेषताएँ प्रत्येक केवलज्ञानी के लिए आवश्यक नहीं हैं**। केवलज्ञानी और तीर्थंकर के बीच मूल अंतर उनके ज्ञान में नहीं, बल्कि उनके **विशिष्ट आध्यात्मिक कार्य और धर्मतीर्थ के प्रवर्तन (Establishment / Revival of the Religious Order)** में है। केवलज्ञान आत्मा की पूर्ण ज्ञानात्मक उपलब्धि है, जबकि तीर्थंकर उस उपलब्धि के आधार पर अन्य जीवों के लिए धर्ममार्ग को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करते हैं।

तीर्थंकर और ईश्वर की अवधारणा

यहाँ जैन धर्म की तुलना अन्य धार्मिक परंपराओं से करना भी उपयोगी है। कुछ धार्मिक परंपराओं में यह माना जाता है कि जब संसार में धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ता है, तब ईश्वर स्वयं किसी रूप में अवतार लेकर धर्म की पुनः स्थापना करता है। उदाहरण के लिए, **भगवद्गीता** में श्रीकृष्ण के माध्यम से यह विचार व्यक्त किया गया है कि धर्म की रक्षा और अधर्म के विनाश के लिए ईश्वर युग-युग में प्रकट होता है।

प्रसिद्ध श्लोक है—

**“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥”**

और आगे कहा गया है—

**“परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥”**

इस विचार में धर्म की स्थापना के लिए **ईश्वर के अवतार** की अवधारणा दिखाई देती है। इसके विपरीत, जैन दर्शन में तीर्थंकर को किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर का अवतार नहीं माना जाता। तीर्थंकर स्वयं एक जीव हैं, जिन्होंने अपने पुरुषार्थ, साधना और पूर्वकृत कर्मों के परिणामस्वरूप उच्चतम आध्यात्मिक अवस्था प्राप्त की है। वे किसी ईश्वर द्वारा भेजे गए अवतार नहीं हैं। यही अंतर जैन धर्म की **आत्मवादी और पुरुषार्थवादी दृष्टि** को स्पष्ट करता है।

इस प्रकार जैन दर्शन में तीर्थंकर की अवधारणा हमें यह संदेश देती है कि आध्यात्मिक पूर्णता किसी बाहरी शक्ति की कृपा पर निर्भर नहीं है। जीव स्वयं साधना, संयम, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के माध्यम से अपने कर्मों का क्षय कर सकता है। तीर्थंकर इस आत्म-विकास की सर्वोच्च उपलब्धि का उदाहरण हैं और साथ ही अन्य जीवों के लिए मुक्ति के मार्गदर्शक भी हैं।

अतः **केवलज्ञानी और तीर्थंकर में मुख्य अंतर यह है कि केवलज्ञानी को केवलज्ञान प्राप्त होता है, जबकि तीर्थंकर केवलज्ञान के साथ धर्मतीर्थ का प्रवर्तन भी करते हैं।** तीर्थंकर की विशेषता उनके ज्ञान के साथ-साथ उनके लोककल्याणकारी धर्मप्रवर्तन, गणधरों, चतुर्विध संघ और धर्मशासन की स्थापना में दिखाई देती है। इस प्रकार तीर्थंकर जैन दर्शन में केवल एक महान व्यक्ति नहीं, बल्कि **पूर्ण आत्मज्ञान और मुक्ति-मार्ग के प्रवर्तन के आदर्श** हैं।

जैन दर्शन में अवतारवाद और तीर्थंकर परंपरा

जैन दर्शन में यह विचार स्वीकार नहीं किया जाता कि जब-जब पृथ्वी पर धर्म की हानि होती है, तब-तब ईश्वर या कोई महापुरुष अवतार लेकर धर्म की स्थापना करता है। यह विचार **अवतारवाद** कहलाता है। जैन दर्शन इसके स्थान पर **आत्मा के पुरुषार्थ और कर्म-सिद्धांत** को महत्व देता है। जैन दृष्टि में कोई व्यक्ति जन्म से ही ईश्वर या तीर्थंकर नहीं होता। वह अपने पुरुषार्थ, साधना और कर्मों के क्षय के द्वारा उच्च आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त करता है।

जैन परंपरा के अनुसार तीर्थंकर भी एक सामान्य मनुष्य के रूप में जन्म लेते हैं। वे अपनी साधना और पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा पर बंधे हुए कर्मों का क्षय करते हैं। विशेष रूप से **चार घातिया कर्मों (जो आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और शक्ति जैसे मूल गुणों को बाधित करते हैं) — ज्ञानावरणीय (जो ज्ञान को ढकता है), दर्शनावरणीय (जो दर्शन/ज्ञान की सामान्य क्षमता को ढकता है), मोहनीय (जो आत्मा में मोह और आसक्ति उत्पन्न करता है) और अंतराय कर्म (जो आत्मा की शक्ति और कार्य करने की क्षमता में बाधा डालता है) — का पूर्ण क्षय होने पर उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होता है।** इसके बाद वे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं और तीर्थंकर के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। अपने जीवन के अंत में वे शेष **चार अघातिया कर्मों (Non-destructive Karmas) — वेदनीय**

(Feeling-producing), आयु (Lifespan-determining), नाम (Body/physical-form determining) और गोत्र कर्म (Status-determining) —का भी क्षय कर देते हैं और **सिद्धत्व** को प्राप्त करते हैं।

सिद्धत्व प्राप्त होने के बाद आत्मा का संसार में पुनः जन्म-मरण नहीं होता। जन्म और शरीर का संबंध कर्मों से माना जाता है। विशेष रूप से शरीर की प्राप्ति **नामकर्म** के उदय से होती है। जब सभी कर्मों का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है, तब आत्मा के लिए नया शरीर धारण करने का कोई कारण शेष नहीं रहता। इसलिए सिद्ध आत्मा जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्र से पूरी तरह मुक्त हो जाती है। वह **अजर, अमर, मुक्त और सिद्ध** अवस्था को प्राप्त करती है।

इसे समझने के लिए जैन दर्शन में कर्म को **बीज** और संसार में पुनर्जन्म को **अंकुर** के रूप में समझाया जा सकता है। जिस प्रकार किसी बीज को पूरी तरह जला देने के बाद उससे नया अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार जब कर्मरूपी बीज पूरी तरह नष्ट हो जाता है, तब उससे नया जन्म उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी भाव को एक प्रसिद्ध उपमा में कहा गया है—

**“दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥”**

“Just as, when a seed is completely burnt, a sprout does not arise from it; so, when the seed of karma is burnt, the sprout of worldly existence does not arise.”

अर्थात्, जिस प्रकार पूरी तरह जला हुआ बीज फिर अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार कर्मरूपी बीज के पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने पर संसाररूपी अंकुर अर्थात् पुनर्जन्म भी उत्पन्न नहीं होता। यह उपमा जैन दर्शन के **कर्मक्षय और मोक्ष** के सिद्धांत को बहुत सरलता से समझाती है।

इस प्रकार जैन दर्शन में मुक्ति किसी बाहरी शक्ति द्वारा प्रदान नहीं की जाती। जीव स्वयं अपने **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और पुरुषार्थ** के द्वारा कर्मों का क्षय करता है और अंततः सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। इसलिए जैन दर्शन में तीर्थंकर को ईश्वर का अवतार मानने के बजाय उन्हें **अपने पुरुषार्थ से पूर्णता प्राप्त करने वाला जीव** माना जाता है। तीर्थंकर यह दिखाते हैं कि आत्मा स्वयं अपने प्रयास से आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त कर सकती है।

Antiquity of Jainism (Hindi)

जैन धर्म की प्राचीनता का प्रश्न केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि **ऐतिहासिक और दार्शनिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण** है। जैन परंपरा में धर्म को अनादि माना जाता है। इसका अर्थ है कि धर्म किसी एक समय में किसी एक व्यक्ति द्वारा बनाया हुआ नहीं है। समय के साथ धार्मिक परंपराओं की भाषा, नाम और उनकी व्याख्या में परिवर्तन हो सकता है, लेकिन मूल आध्यात्मिक सत्य को जैन दर्शन शाश्वत मानता है। इसलिए किसी धर्म की प्राचीनता निर्धारित करने के लिए केवल उसके वर्तमान नाम को देखना पर्याप्त नहीं है। उसके पुराने साहित्य, परंपराओं और पुरातात्विक प्रमाणों को भी देखना आवश्यक है।

जैन धर्म को लेकर कभी-कभी यह मत प्रस्तुत किया गया कि यह वैदिक धर्म की शाखा है या फिर बौद्ध धर्म के बाद विकसित हुई परंपरा है। लेकिन आधुनिक ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययनों में जैन परंपरा को एक स्वतंत्र श्रमण धार्मिक-दार्शनिक परंपरा के रूप में समझा जाता है। विशेष रूप से जैन और बौद्ध परंपराओं के बीच समानताओं के बावजूद दोनों की अपनी अलग दार्शनिक अवधारणाएँ, साधना-पद्धतियाँ और धार्मिक परंपराएँ हैं।

जैन धर्म की प्राचीनता को समझने के लिए दो प्रकार के प्रमाण विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं—**साहित्यिक प्रमाण और पुरातात्विक प्रमाण**।

साहित्यिक प्रमाणों में वैदिक तथा उत्तरवैदिक साहित्य में मिलने वाले ऐसे शब्दों और व्यक्तित्वों के उल्लेखों का अध्ययन किया जाता है, जिनका संबंध श्रमण परंपरा से जोड़ा जाता है। पुरातात्विक प्रमाणों में प्राचीन सभ्यताओं से प्राप्त मूर्तियों, मुहरों और अन्य अवशेषों का अध्ययन किया जाता है।

भारतीय साहित्य में वेदों को प्राचीनतम उपलब्ध साहित्यिक परंपराओं में माना जाता है। वैदिक और उत्तरवैदिक साहित्य में **श्रमण, मुनि, अर्हत्, निर्ग्रन्थ और ब्राह्मण** जैसे शब्द मिलते हैं। इन शब्दों की व्याख्या को लेकर विद्वानों में अलग-अलग मत हैं, इसलिए इनके आधार पर सीधे यह निष्कर्ष निकालना सावधानी के साथ ही उचित है कि ये सभी शब्द निश्चित रूप से जैन साधुओं के लिए ही प्रयुक्त हुए थे। फिर भी, ये उल्लेख प्राचीन भारत में वैदिक परंपरा के साथ-साथ **श्रमण और तपस्वी परंपराओं के अस्तित्व** की ओर संकेत करते हैं।

श्रमण परंपरा

‘श्रमण’ शब्द भारतीय धार्मिक इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। **इसका सामान्य अर्थ साधना, तप या आध्यात्मिक प्रयास करने वाला व्यक्ति है।** बौद्ध और जैन दोनों परंपराओं में ‘श्रमण’ शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ। वैदिक और उत्तरवैदिक साहित्य में भी मुनियों और तपस्वियों से संबंधित उल्लेख मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय धार्मिक जीवन में तप, संयम और सांसारिक जीवन से अलग आध्यात्मिक साधना की परंपरा बहुत प्राचीन थी।

जैन परंपरा में ऋषभदेव और अन्य तीर्थंकरों को श्रमण परंपरा से जोड़ा गया है। बाद के ग्रंथों में ऋषभदेव को तप, संयम और आत्मसाधना से संबंधित आदर्श व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसलिए जैन धर्म की प्राचीनता पर चर्चा करते समय **श्रमण परंपरा** को एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक संदर्भ के रूप में समझना चाहिए।

केशी

ऋग्वेद में ‘**केशी**’ नामक एक मुनि का उल्लेख मिलता है। ‘केशी’ से संबंधित ऋग्वैदिक सूक्त को भारतीय तपस्वी परंपराओं के अध्ययन में महत्वपूर्ण माना गया है। जैन परंपरा में ऋषभदेव के साथ ‘केशी’ नाम का संबंध स्थापित किया गया है और उनकी प्रतिमा के लंबे या कंधों तक आने वाले बालों को भी इस परंपरा से जोड़ा जाता है।

हालाँकि, ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से यह ध्यान रखना आवश्यक है कि किसी वैदिक उल्लेख को सीधे किसी विशिष्ट जैन तीर्थंकर से जोड़ने के लिए अतिरिक्त प्रमाणों की आवश्यकता होती है। इसलिए इसे **जैन परंपरा द्वारा की गई पहचान** के रूप में समझना अधिक उचित है।

ब्रात्य

वैदिक साहित्य में 'ब्रात्य' शब्द का भी उल्लेख मिलता है। ब्रात्यों को सामान्य वैदिक सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था से कुछ अलग तपस्वी या धार्मिक समूहों के रूप में वर्णित किया गया है। इनके संबंध में विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। कुछ अध्ययनों में ब्रात्य परंपरा और व्यापक श्रमण संस्कृति के बीच संभावित संबंधों पर चर्चा की गई है।

इससे यह संकेत मिलता है कि प्राचीन भारत में धार्मिक जीवन केवल एक ही परंपरा तक सीमित नहीं था। वैदिक परंपरा के साथ-साथ विभिन्न तपस्वी, मुनि और श्रमण समूह भी अस्तित्व में थे।

अर्हत् और निर्ग्रन्थ

'अर्हत्' शब्द का अर्थ सामान्यतः योग्य, पूज्य या सम्मान के योग्य व्यक्ति से जुड़ा है। जैन परंपरा में 'अर्हत्' का प्रयोग उन महान आत्माओं के लिए किया जाता है जिन्होंने राग-द्वेष और कर्मों पर विजय प्राप्त की है। इसी प्रकार 'निर्ग्रन्थ' शब्द का अर्थ बंधनों या ग्रंथियों से मुक्त व्यक्ति के अर्थ में लिया जाता है और प्राचीन बौद्ध तथा अन्य साहित्य में यह शब्द जैन साधुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है।

इन शब्दों का ऐतिहासिक महत्व इस कारण है कि ये प्राचीन भारतीय धार्मिक साहित्य में जैन या श्रमण परंपरा से संबंधित शब्दावली को समझने में सहायता करते हैं। इससे यह पता चलता है कि जैन परंपरा से संबंधित साधु-संघ और तपस्वी जीवन की धारा प्राचीन भारत के धार्मिक वातावरण का हिस्सा थी।

ऋषभदेव के साहित्यिक उल्लेख

जैन परंपरा में ऋषभदेव को प्रथम तीर्थंकर माना जाता है। उनके संबंध में जैन ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ उत्तरवैदिक और पुराणिक साहित्य में भी उल्लेख मिलता है। विशेष रूप से भागवत पुराण में ऋषभदेव का वर्णन मिलता है। उन्हें एक महान धार्मिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

इन उल्लेखों का अध्ययन करते समय यह समझना जरूरी है कि अलग-अलग धार्मिक परंपराएँ एक ही व्यक्तित्व को अपने-अपने धार्मिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत कर सकती हैं। इसलिए इन स्रोतों का तुलनात्मक अध्ययन जैन धर्म की ऐतिहासिक स्थिति को समझने में उपयोगी है।

यजुर्वेद में तीर्थंकरों के नाम

जैन परंपरा के अनुसार यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि जैसे नामों का उल्लेख मिलता है और इन्हें जैन तीर्थंकरों से जोड़ा जाता है। इस आधार पर जैन धर्म की प्राचीनता के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किया जाता है।

हालाँकि, यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि किसी प्राचीन ग्रंथ में किसी नाम का मिलना और उस नाम को निश्चित रूप से जैन तीर्थंकर के रूप में पहचानना दो अलग-अलग बातें हैं। इसलिए ऐसे प्रमाणों का अध्ययन मूल पाठ, संदर्भ और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ करना चाहिए।

जैन धर्म की प्राचीनता की चर्चा केवल साहित्यिक प्रमाणों तक सीमित नहीं है। **पुरातत्त्व** भी प्राचीन भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन को समझने का महत्वपूर्ण साधन है। प्राचीन भारत के बारे में बहुत-सी ऐसी जानकारीयाँ हमें पुरातात्विक अवशेषों से प्राप्त होती हैं जिनका उल्लेख लिखित साहित्य में नहीं मिलता।

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो जैसे स्थलों की खुदाई से प्राचीन भारतीय सभ्यता के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई। इन स्थलों से प्राप्त नगर-योजना, भवन, मुहरें, मूर्तियाँ, आभूषण और अन्य वस्तुएँ उस समय के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन की झलक देती हैं।

इन स्थलों पर प्राप्त कुछ **मुद्राओं और मानव आकृतियों** को कुछ विद्वानों ने तपस्वी या योगिक परंपराओं से जोड़ने का प्रयास किया है। कुछ विद्वानों ने ऐसी आकृतियों में बाद की श्रमण परंपराओं के संभावित संकेत भी देखे हैं। लेकिन इन पुरातात्विक वस्तुओं को सीधे जैन तीर्थंकरों या जैन धर्म का प्रमाण मानना ऐतिहासिक रूप से विवादित है। इसलिए इन्हें **संभावित सांस्कृतिक या धार्मिक निरंतरता के संकेत** के रूप में देखना अधिक सावधानीपूर्ण है।

पुरातत्त्व का महत्व यह है कि इससे हमें यह समझने में सहायता मिलती है कि भारतीय उपमहाद्वीप में धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों की अनेक धाराएँ बहुत प्राचीन समय से विकसित हो रही थीं। तप, योग, ध्यान और सांसारिक जीवन से विरक्ति जैसी प्रवृत्तियाँ भारतीय धार्मिक इतिहास में बहुत पुरानी हैं। बाद में इन्हीं व्यापक सांस्कृतिक परिस्थितियों में विभिन्न **श्रमण परंपराओं** का विकास हुआ।

जैन धर्म के नाम का प्रश्न

जैन धर्म की प्राचीनता पर चर्चा करते समय एक प्रश्न यह भी उठता है कि यदि जैन धर्म इतना प्राचीन है, तो प्राचीन ग्रंथों में **‘जैन धर्म’** नाम क्यों नहीं मिलता? इसका एक सरल उत्तर यह है कि किसी परंपरा का वर्तमान नाम हमेशा उसके प्रारंभिक काल में उसी रूप में प्रचलित हो, यह आवश्यक नहीं है।

‘जैन’ शब्द का संबंध ‘जिन’ से है और यह नाम बाद की साहित्यिक परंपरा में अधिक व्यापक रूप से प्रचलित हुआ। प्रारंभिक काल में इस परंपरा के लिए **श्रमण, अर्हत् और निर्ग्रन्थ** जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसलिए केवल इस आधार पर किसी परंपरा को प्राचीन या नवीन घोषित नहीं किया जा सकता कि उसका वर्तमान नाम किसी प्राचीन ग्रंथ में मिलता है या नहीं।

पुरातात्विक प्रमाण और जैन धर्म की प्राचीनता

मोहनजोदड़ो से प्राप्त कुछ मुहरों और मूर्तियों को जैन परंपरा के संदर्भ में भी समझा गया है। कुछ मुहरों पर ऐसी मानव आकृतियाँ दिखाई देती हैं जो **योग या ध्यान की मुद्रा** में बैठी या खड़ी हुई हैं। इनमें से कुछ आकृतियाँ **कायोत्सर्ग मुद्रा** जैसी दिखाई देती हैं। कायोत्सर्ग का अर्थ है—शरीर के प्रति ममता को छोड़कर आत्मा में स्थित

होना। जैन साधना में यह एक महत्वपूर्ण ध्यान-पद्धति है, जिसमें साधक शरीर को स्थिर रखकर आत्मचिंतन और ध्यान करता है।

मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक विशेष मुहर का वर्णन जैन परंपरा के संदर्भ में किया जाता है। इसमें एक योगी को **कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानमग्न** दिखाया गया है। उसके सिर के ऊपर त्रिशूल जैसी आकृति दिखाई देती है और उसके निकट वृक्ष का एक पत्ता दिखाई देता है। योगी के चरणों के पास एक व्यक्ति हाथ जोड़कर खड़ा है। उसके पीछे एक **वृषभ अर्थात् बैल** दिखाई देता है। मुहर के निचले भाग में कई अन्य ध्यानमग्न आकृतियाँ भी दिखाई देती हैं।

कुछ जैन विद्वानों ने इस मुहर की व्याख्या **भगवान ऋषभदेव** से संबंधित दृश्य के रूप में की है। उनके अनुसार मुख्य आकृति ऋषभदेव की हो सकती है, जो कायोत्सर्ग में ध्यान कर रहे हैं। उनके पास दिखाई देने वाला वृक्ष कल्पवृक्ष का प्रतीक माना गया है और सिर के ऊपर दिखाई देने वाली त्रिशूल जैसी आकृति को **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र**, अर्थात् जैन धर्म के **रत्नत्रय**, का प्रतीक माना गया है।

इसी व्याख्या के अनुसार चरणों के पास हाथ जोड़कर खड़ा व्यक्ति **भरत** का प्रतिनिधित्व करता है और उसके पीछे दिखाई देने वाला वृषभ ऋषभदेव के **लांछन** की ओर संकेत करता है। नीचे दिखाई देने वाली सात ध्यानमग्न आकृतियों को कुछ विद्वान ऋषभदेव के साथ दीक्षित हुए मुनियों के प्रतीक के रूप में देखते हैं। इस प्रकार पूरी मुहर को ऋषभदेव की साधना और उनके अनुयायियों से संबंधित दृश्य के रूप में समझने का प्रयास किया गया है।

हालाँकि, इस प्रकार की व्याख्या को समझते समय **ऐतिहासिक सावधानी** आवश्यक है। मोहनजोदड़ो की मुहरों का वास्तविक धार्मिक अर्थ आज भी निश्चित रूप से स्थापित नहीं किया जा सका है। किसी आकृति को जैन तीर्थंकर मानने के लिए केवल उसकी मुद्रा या उसके साथ दिखाई देने वाले पशु-वृक्ष के आधार पर अंतिम निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा। इसलिए ऐसी व्याख्याओं को **जैन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत एक महत्वपूर्ण व्याख्या** के रूप में देखना चाहिए, न कि निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य के रूप में।

कायोत्सर्ग और जैन कला

इन पुरातात्विक अवशेषों की चर्चा में **कायोत्सर्ग मुद्रा** विशेष महत्व रखती है। कायोत्सर्ग जैन साधना की एक विशिष्ट ध्यान-पद्धति है। इसमें साधक शरीर को स्थिर रखता है और बाहरी शारीरिक गतिविधियों से अधिक आत्मचिंतन पर ध्यान देता है। जैन तीर्थंकरों की अनेक प्राचीन प्रतिमाओं में उन्हें खड़े हुए कायोत्सर्ग की मुद्रा में दिखाया गया है।

जैन मूर्तिकला की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता **ध्यानमुद्रा** है। तीर्थंकरों को प्रायः शांत, स्थिर और वीतराग भाव में प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार की कला में बाहरी भाव-भंगिमा की अपेक्षा **आंतरिक शांति और आत्मसंयम** को अधिक महत्व दिया जाता है।

जैन परंपरा में ध्यान के लिए **पद्मासन या पर्यङ्कासन** का भी प्रयोग मिलता है। इसलिए जैन प्रतिमाओं में मुख्य रूप से दो प्रकार की ध्यानमुद्राएँ दिखाई देती हैं—बैठी हुई ध्यानमुद्रा और खड़ी हुई कायोत्सर्ग मुद्रा। इन मुद्राओं के माध्यम से जैन कला तीर्थकरों की **वीतरागता और आत्मस्थ अवस्था** को व्यक्त करती है।

आचार्य हेमचंद्र ने भी तीर्थकर की योगमुद्रा की विशेषता का उल्लेख करते हुए उनकी ध्यानावस्था और स्थिर दृष्टि की प्रशंसा की है। इससे यह पता चलता है कि जैन परंपरा में प्रतिमा की मुद्रा केवल कलात्मक प्रस्तुति नहीं थी, बल्कि उसके पीछे एक गहरा **आध्यात्मिक और दार्शनिक अर्थ** भी था।

नागफण और तीर्थकर प्रतिमाएँ

प्राचीन भारतीय कला में **नाग और नागफण** का प्रयोग भी धार्मिक प्रतीकों के रूप में मिलता है। जैन परंपरा में विशेष रूप से पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं में उनके सिर के ऊपर नागफण का छत्र दिखाई देता है। सुपार्श्वनाथ के साथ भी नाग-संबंधी प्रतीकात्मक परंपरा मिलती है।

इस प्रकार किसी प्रतिमा में नागफण का होना जैन कला की पहचान के लिए उपयोगी संकेत हो सकता है, लेकिन केवल इसी आधार पर किसी पुरातात्विक प्रतिमा को निश्चित रूप से जैन प्रतिमा घोषित नहीं किया जा सकता। उसके साथ जुड़े अन्य प्रतीकों, मुद्रा, काल, स्थान और पुरातात्विक संदर्भ का भी अध्ययन आवश्यक है।

मोहनजोदड़ो की प्रतिमाएँ और जैन परंपरा

मोहनजोदड़ो और सिंधु सभ्यता से प्राप्त कुछ ध्यानमग्न आकृतियों ने इतिहासकारों और धर्म-अध्येताओं का ध्यान आकर्षित किया है। इन आकृतियों में **ध्यान, स्थिरता, योगिक मुद्रा और कुछ मामलों में नग्नता** जैसी विशेषताएँ दिखाई देती हैं। जैन परंपरा में नग्न साधना और कायोत्सर्ग का विशेष स्थान होने के कारण कुछ विद्वानों ने इन आकृतियों में जैन साधना के प्रारंभिक संकेत देखने का प्रयास किया है।

कुछ विद्वानों ने इन आकृतियों को जैन परंपरा के प्राचीन स्वरूप से जोड़ते हुए यह तर्क दिया है कि सिंधु सभ्यता में ऐसी आध्यात्मिक परंपरा मौजूद थी जो बाद में विकसित हुई श्रमण परंपराओं से संबंधित हो सकती है। इसी आधार पर मोहनजोदड़ो की कुछ मूर्तियों और मुहरों को जैन धर्म की प्राचीनता के संभावित प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

लेकिन आधुनिक पुरातात्विक अध्ययन में इस विषय पर **सर्वसम्मति नहीं है**। सिंधु सभ्यता की धार्मिक प्रतीक-व्यवस्था को पूरी तरह समझना अभी भी कठिन है, क्योंकि उस सभ्यता की लिपि का अर्थ निर्णायक रूप से पढ़ा नहीं जा सका है। इसलिए इन आकृतियों को सीधे ऋषभदेव या किसी अन्य तीर्थकर से जोड़ना अभी भी एक **व्याख्यात्मक मत** है।

ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन

इन पुरातात्विक प्रमाणों का महत्व कम नहीं है। वे यह दिखाते हैं कि भारतीय उपमहाद्वीप में बहुत प्राचीन समय से **ध्यान, योग, तप और आध्यात्मिक साधना** से संबंधित प्रतीक मौजूद थे। बाद की भारतीय धार्मिक परंपराओं में भी इनका महत्वपूर्ण विकास हुआ।

इसलिए मोहनजोदड़ो की आकृतियों को जैन धर्म का निश्चित प्रमाण मानने के बजाय यह कहना अधिक उचित है कि वे **प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक और तपस्वी परंपराओं के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण स्रोत** हैं। जैन परंपरा इन आकृतियों को अपने धार्मिक प्रतीकों और साधना-पद्धतियों के संदर्भ में अर्थ देती है, जबकि आधुनिक इतिहासकार इनके अर्थ को व्यापक सिंधु सभ्यता के संदर्भ में देखते हैं।

आरम्भकाल

एक समय जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा माना जाता था, लेकिन बाद के शोधों से यह धारणा गलत सिद्ध हुई। अब यह प्रमाणित है कि **जैन धर्म बौद्ध धर्म से स्वतंत्र और उससे भी प्राचीन धार्मिक परंपरा है**। भगवान महावीर बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध के समकालीन थे।

डॉ. हर्मन याकोबी ने जैन सूत्रों की प्रस्तावना में जैन धर्म की प्राचीनता और स्वतंत्रता पर विशेष प्रकाश डाला। उनके अनुसार, महावीर से पहले भी **निर्ग्रन्थों** का एक स्वतंत्र और संगठित धार्मिक समुदाय अस्तित्व में था। बौद्ध ग्रंथों में भी निर्ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है और उन्हें बुद्ध के विरोधी धार्मिक समुदाय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि **निर्ग्रन्थ परंपरा बौद्ध धर्म के उदय से पहले ही विद्यमान थी**।

अतः जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा मानना उचित नहीं है। **महावीर ने प्राचीन निर्ग्रन्थ परंपरा को व्यवस्थित, विकसित और सुदृढ़ किया।**

भगवान महावीर को जैन धर्म का संस्थापक नहीं माना जाता। उनसे लगभग **250 वर्ष पहले भगवान पार्श्वनाथ** हुए थे, जिन्हें एक ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। इसलिए जैन धर्म का आरम्भ लगभग **ईसा पूर्व 800 वर्ष** माना जाता है। हालांकि, कुछ विद्वानों का मत है कि जैन धर्म पार्श्वनाथ से भी पहले से अस्तित्व में था।

डॉ. हर्मन याकोबी के अनुसार, निर्ग्रन्थों का संप्रदाय महावीर द्वारा स्थापित कोई नया संप्रदाय नहीं था, बल्कि बुद्ध के जन्म से भी पहले से इसका अस्तित्व था। इसी प्रकार **सर राधाकृष्णन** और अन्य विद्वानों ने भी जैन धर्म की प्राचीनता को स्वीकार किया है।

फ्रांसीसी विद्वान **डॉ. ए. गिरनाट** ने कहा कि जैन धर्म की प्राचीनता बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक है। **लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक** ने भी कहा कि बौद्ध धर्म की स्थापना से पहले ही जैन धर्म का प्रचार हो रहा था। उन्होंने यह भी बताया कि **24 तीर्थंकरों में भगवान महावीर अंतिम तीर्थंकर हैं**, जिससे जैन धर्म की प्राचीनता का प्रमाण मिलता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार **भगवान पार्श्वनाथ को जैन धर्म का संस्थापक मानने का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है**। जैन परंपरा में **प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव** को जैन धर्म का संस्थापक माना जाता है और इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की संभावना भी स्वीकार की गई है।

डॉ. सर राधाकृष्णन के अनुसार, जैन परंपरा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति मानती है। इसके प्रमाण मिलते हैं कि ईसा पूर्व 1st शताब्दी में भी प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा की जाती थी। इससे स्पष्ट होता है कि जैन धर्म वर्धमान महावीर और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था।

यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि—इन तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख मिलता है। भागवत पुराण भी ऋषभदेव को जैन धर्म के संस्थापक के रूप में स्वीकार करने की परंपरा का समर्थन करता है। इस प्रकार, जैन धर्म की उत्पत्ति को महावीर या पार्श्वनाथ तक सीमित करना उचित नहीं है; इसकी परंपरा उनसे भी प्राचीन मानी जाती है।

उपरोक्त दोनों मतों से यह स्पष्ट होता है कि भगवान पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे और उनसे पहले भी जैन धर्म प्रचलित था। जैन परंपरा ऋषभदेव को प्रथम तीर्थंकर मानती है और जैनेतर साहित्य तथा ऐतिहासिक प्रमाण भी इस मान्यता की पुष्टि करते हैं।

जैन-परम्परा

जैन परंपरा के अनुसार काल अनादि और अनंत है तथा यह निरंतर चक्र के रूप में चलता रहता है। कालचक्र के छह भाग माने गए हैं— 1. अतिसुख, 2. सुख, 3. सुख-दुःख, 4. दुःख-सुख, 5. दुःख और 6. अतिदुःख। ये भाग क्रमशः सुख से दुःख और दुःख से सुख की ओर चलते रहते हैं।

सुख से दुःख की ओर जाने वाले काल को अवसर्पिणी (अवनतिकाल) और दुःख से सुख की ओर जाने वाले काल को उत्सर्पिणी (विकासकाल) कहा जाता है। इन दोनों कालों की अवधि बहुत लंबी होती है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के दुःख-सुखरूप भाग में 24 तीर्थंकरों का जन्म होता है। वे 'जिन' अवस्था प्राप्त करके जैन धर्म का उपदेश देते हैं।

वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है। इसके प्रारम्भ के चार भाग बीत चुके हैं और वर्तमान में हम इसके पाँचवें भाग में हैं।

जैन परंपरा के अनुसार वर्तमान युग के 24 तीर्थंकरों में भगवान ऋषभदेव प्रथम और भगवान महावीर अंतिम तीर्थंकर थे। ऋषभदेव का निर्वाण तीसरे काल के अंत में और महावीर का निर्वाण चौथे काल के अंत में हुआ। दोनों के बीच अत्यंत लंबा समय माना गया है। इसलिए जैन परंपरा के अनुसार इस युग में जैन धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव थे। प्राचीन जैन ग्रंथों में ऋषभदेव के जीवन और उपदेशों का विस्तार से वर्णन मिलता है।

जैनेतर साहित्य में ऋषभदेव

जैनेतर साहित्य में श्रीमद्भागवत पुराण का उल्लेख विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसके पाँचवें स्कंध के अध्याय 2-6 में ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसमें उन्हें नाभि और मरुदेवी के पुत्र तथा भरत सहित 100 पुत्रों के पिता के रूप में बताया गया है। ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य सौंपकर संन्यास और तपस्या का मार्ग अपनाया।

भागवत के वर्णन में ऋषभदेव को दिगम्बर, मौन, वैरागी और तपस्वी बताया गया है। वे सुख-दुःख, मान-अपमान तथा शारीरिक कष्टों से प्रभावित नहीं होते थे और आत्मकल्याण के लिए निरंतर विचरण करते थे। अंत में उन्होंने कुटकाचल पर्वत के वन में लगी अग्नि में शरीर का त्याग किया।

भागवत में ऋषभदेव के उपदेशों में तप, इन्द्रिय-संयम, विषयों से वैराग्य, आत्मकल्याण और भोगों से दूरी पर विशेष जोर दिया गया है। ये शिक्षाएँ जैन धर्म के सिद्धांतों से काफी हद तक मेल खाती हैं। इसलिए धार्मिक मतभेदों से संबंधित आलोचनात्मक अंशों को अलग रखने पर भागवत का वर्णन भी इस बात की ओर संकेत करता है कि ऋषभदेव एक प्राचीन तपस्वी और धार्मिक प्रवर्तक थे तथा उनके उपदेश जैन परंपरा से निकट संबंध रखते हैं।

ऋषभदेव के उपदेशों का सार

1. **तप का महत्व:** मनुष्य जीवन केवल भोग के लिए नहीं है; तप के द्वारा अनंत सुख और आत्मकल्याण प्राप्त किया जा सकता है।
2. **विषयों से वैराग्य:** साधु व्यक्ति स्त्री, पुत्र, मित्र और सांसारिक विषयों में अत्यधिक आसक्ति नहीं रखता तथा समभाव और शांति का पालन करता है।
3. **इन्द्रिय-संयम:** केवल इन्द्रियों की तृप्ति के लिए जीवनभर परिश्रम करना उचित नहीं है, क्योंकि भोग आत्मा के लिए क्लेश और बंधन का कारण बनते हैं।
4. **आत्मज्ञान और कर्मबंध:** जब तक साधु आत्मतत्त्व को नहीं जानता, तब तक वह अज्ञानी रहता है। कर्मों में आसक्ति के कारण शरीर और मन के माध्यम से आत्मा कर्मबंध में बंधती रहती है।
5. **प्रमाद और संसार-भ्रमण:** जो व्यक्ति अपने गुणों और कर्तव्यों के अनुसार आचरण नहीं करता, वह प्रमाद के कारण अज्ञान में पड़ जाता है और विषयासक्ति के कारण बार-बार संसार में जन्म लेता है।
6. **कामना और मोह:** पुरुष का स्त्री के प्रति कामभाव हृदय की मुख्य ग्रंथि है। इसी आसक्ति के कारण जीव घर, खेत, पुत्र, परिवार और धन आदि में मोह करता है।
7. **बंधन से मुक्ति:** जब हृदय की ग्रंथि को बनाए रखने वाले मन का बंधन कमजोर हो जाता है, तब जीव संसार के बंधन से मुक्त होकर परम अवस्था को प्राप्त करता है।
8. **भक्ति, तत्त्वज्ञान और तप:** जब व्यक्ति अज्ञान का नाश करने वाली भक्ति करता है, तृष्णा तथा सुख-दुःख से ऊपर उठकर तत्त्वज्ञान की इच्छा करता है और तप के द्वारा सांसारिक चेष्टाओं को रोकता है, तब वह मुक्ति प्राप्त करता है।
9. **विषयासक्ति का परिणाम:** विषयों की इच्छा जीव को अंधकूप के समान संसार और दुःख के बंधन में डाल देती है।

10. अत्यधिक कामना: अत्यधिक इच्छाओं और मोह के कारण मनुष्य अपने वास्तविक कल्याण के मार्ग को पहचान नहीं पाता।

11. सुमार्ग का महत्व: जो व्यक्ति अज्ञान के कारण सुमार्ग छोड़कर कुमार्ग पर चलता है, उसे विवेकशील और दयालु विद्वान् कुमार्ग से बचाकर सही मार्ग दिखाता है।

12. समभाव और अहिंसा: सभी स्थावर और जंगम जीवों को अपने समान समझकर उनके प्रति समभाव और करुणा की भावना रखनी चाहिए।

ऋषभदेव को जैन धर्म का आद्य प्रवर्तक मानने के प्रमाण

उपर्युक्त उपदेशों में **कर्मबंध, मन-वचन-काय का संयम, तप, आत्मज्ञान, विषयों से वैराग्य और जीवमात्र के प्रति समभाव** जैसे सिद्धांत मिलते हैं। ये जैन धर्म के मूल सिद्धांतों से बहुत निकट हैं। विशेष रूप से कर्मकांड को कर्मबंध का कारण मानना और मन, वचन तथा काय के निरोध द्वारा कर्मों से मुक्ति की बात जैन दर्शन की प्रमुख विशेषता है। इसलिए श्रीमद्भागवत के वर्णन से भी यह संकेत मिलता है कि **ऋषभदेव से ही जैन धर्म की प्राचीन परंपरा का उद्गम हुआ।**

अन्य हिन्दू पुराणों में भी ऋषभदेव से संबंधित इसी प्रकार के वर्णन मिलते हैं। उपलब्ध पुराणों में जैन धर्म की चर्चा तो मिलती है, लेकिन **महावीर या पार्श्वनाथ को जैन धर्म का संस्थापक नहीं बताया गया है।** इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दू परंपरा में भी ऋषभदेव को ही जैन धर्म का आद्य प्रवर्तक माना जाता था।

हिन्दू परंपरा में विभिन्न भारतीय धर्मों के महापुरुषों को अवतारों में शामिल किया गया है। **बुद्ध**, जो बौद्ध धर्म के संस्थापक थे, उन्हें भी विष्णु के अवतारों में स्थान दिया गया, लेकिन उनके समकालीन **महावीर** को अवतार नहीं माना गया। इसके विपरीत **ऋषभदेव को विष्णु का आठवाँ अवतार माना गया है।** इससे भी यह संकेत मिलता है कि हिन्दू परंपरा ऋषभदेव को जैन धर्म की प्राचीन परंपरा से जोड़ती थी। यजुर्वेद में भी **ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि** के नामों का उल्लेख मिलता है।

बौद्ध साहित्य के प्रमाण

बौद्ध साहित्य में भगवान महावीर का उल्लेख **नातपुत्त** के नाम से मिलता है, लेकिन उन्हें जैन धर्म का संस्थापक या जैन धर्म को नया संप्रदाय नहीं बताया गया है। बौद्ध ग्रंथों में **निर्ग्रन्थों** का उल्लेख बड़ी संख्या में मिलता है। इसी आधार पर **डॉ. हर्मन याकोबी** ने निष्कर्ष निकाला कि बौद्ध धर्म की स्थापना के समय जैन संप्रदाय पहले से ही एक बड़ा और संगठित धार्मिक संप्रदाय था।

प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान **धर्मकीर्ति** ने अपने ग्रंथ **न्यायबिन्दु** में सर्वज्ञ और आप्त के उदाहरण देते हुए **प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अंतिम तीर्थंकर वर्धमान (महावीर)** का उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि बौद्ध परंपरा में भी ऋषभदेव को **प्रथम जैन तीर्थंकर** के रूप में स्वीकार किया जाता था।

ऐतिहासिक सामग्री

इस प्रकार जैन परंपरा, हिन्दू साहित्य और बौद्ध साहित्य—तीनों के प्रमाणों से यह निष्कर्ष मजबूत होता है कि भगवान ऋषभदेव जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक और प्रथम तीर्थंकर थे। महावीर और पार्श्वनाथ जैन धर्म के महान तीर्थंकर और उसके विकास में महत्वपूर्ण व्यक्तित्व थे, लेकिन उन्हें जैन धर्म का संस्थापक मानना उचित नहीं है।

शिलालेखों से प्रमाण

शिलालेखों से भी यह प्रमाणित होता है कि भगवान ऋषभदेव जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर थे और प्राचीन काल में उनकी पूजा होती थी। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई में डॉ. फ्यूहरर को लगभग 2000 वर्ष पुराने जैन शिलालेख मिले। इन शिलालेखों में कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के समय का उल्लेख है तथा भगवान ऋषभदेव की पूजा के लिए दान देने की जानकारी मिलती है।

इससे भी अधिक प्राचीन और महत्वपूर्ण प्रमाण उड़ीसा की उदयगिरि-खण्डगिरि की हाथीगुफा के शिलालेख से मिलता है। लगभग 2100 वर्ष पुराने इस शिलालेख को जैन राजा खारवेल से संबंधित माना जाता है। इसमें उल्लेख है कि कलिंग पर विजय प्राप्त करने के बाद नन्द राजा भगवान ऋषभदेव की एक प्राचीन प्रतिमा अपने साथ मगध ले गया था। बाद में खारवेल के समय वह प्रतिमा वापस कलिंग लाई गई।

इस प्रकार, महावीर के समय के आसपास ही नहीं, बल्कि उनसे बहुत पहले ऋषभदेव की प्रतिमा और उनकी पूजा की परंपरा के प्रमाण मिलते हैं। यदि जैन धर्म की स्थापना महावीर या पार्श्वनाथ ने की होती, तो प्राचीन शिलालेखों में उन्हीं से संबंधित प्रमाण मिलने की अपेक्षा होती। इसलिए ये शिलालेख ऋषभदेव को जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर और प्राचीन प्रवर्तक मानने की परंपरा को ऐतिहासिक आधार प्रदान करते हैं।

जैन दर्शन में कालचक्र/ Jain Philosophy: The Concept of the Cosmic Time Cycle

जैन दर्शन में काल को कालचक्र के रूप में समझाया गया है। यह कालचक्र अनादि और अनन्त है। इसके दो भाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। अवसर्पिणी में सुख, समृद्धि और जीवन की स्थितियाँ धीरे-धीरे कम होती जाती हैं, जबकि उत्सर्पिणी में ये स्थितियाँ धीरे-धीरे बढ़ती और विकसित होती हैं।

जैन परंपरा के अनुसार प्रत्येक कालचक्र के उपयुक्त समय में 24 तीर्थंकर होते हैं। इसलिए तीर्थंकरों की परंपरा को किसी एक ऐतिहासिक समय या किसी एक व्यक्ति से शुरू हुई परंपरा नहीं माना जाता। वर्तमान अवसर्पिणी काल में भी 24 तीर्थंकर हुए हैं। इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अंतिम तीर्थंकर महावीर हैं।

जैन दर्शन के व्यापक ब्रह्मांडीय एवं दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में 'तीर्थंकर' की अवधारणा अत्यंत गहन, शाश्वत और महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत संदर्भ के आधार पर तीर्थंकरों के स्वरूप, उनकी परंपरा, और काल-चक्र में उनकी भूमिका का विस्तृत हिंदी विवेचन नीचे दिया गया है:

1. तीर्थंकर शब्द का शाब्दिक और आध्यात्मिक अर्थ

- **शाब्दिक अर्थ (तीर्थ-कर):** 'तीर्थ' का अर्थ होता है 'घाट' या 'उतरने-पार करने का स्थान' (Ford), और 'कर' का अर्थ है 'बनाने वाला'। इस प्रकार तीर्थकर का शाब्दिक अर्थ है **"आध्यात्मिक घाट या सेतु का निर्माण करने वाला"** (Ford-maker)।
- **भवसागर पार कराने वाले:** संसार को एक अथाह समुद्र (भवसागर) माना गया है, जिसमें जन्म, मरण और पुनर्जन्म का चक्र निरंतर चलता रहता है। तीर्थकर वे महापुरुष होते हैं जो इस भवसागर को पार करके स्वयं मोक्ष प्राप्त करते हैं और अन्य जीवों के लिए भी धर्म रूपी सुरक्षित घाट (मार्ग) की रचना करते हैं।
- **तीर्थ (चतुर्विध संघ) के संस्थापक:** तीर्थकर केवल आत्म-कल्याण नहीं करते, बल्कि **केवलज्ञान** (परम ज्ञान / Omniscience) प्राप्त करने के पश्चात धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। यह तीर्थ चार अंगों से मिलकर बनता है:
 1. साधु (Moni/Ascetics)
 2. साध्वी (Nuns)
 3. श्रावक (Laymen)
 4. श्राविका (Laywomen) इस चतुर्विध संघ के माध्यम से वे जीवमात्र को जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति का सीधा और व्यावहारिक मार्ग दिखाते हैं।

2. चौबीस तीर्थकरों की शाश्वत परंपरा

- **अनादि-अनंत काल-चक्र:** जैन परंपरा के अनुसार, तीर्थकरों की परंपरा किसी एक ऐतिहासिक व्यक्ति या काल-विशेष से शुरू नहीं हुई है। यह परंपरा अनादि काल से चली आ रही है और अनंत काल तक चलती रहेगी।
- **प्रत्येक अर्ध-चक्र में 24 तीर्थकर:** काल-चक्र के प्रत्येक आधे भाग (अवसर्पिणी अर्थात् ह्रास काल और उत्सर्पिणी अर्थात् विकास काल) के उपयुक्त समय पर नियमपूर्वक **24 तीर्थकर** जन्म लेते हैं।
- **भगवान महावीर: प्रवर्तक, न कि संस्थापक:** आधुनिक या सामान्य दृष्टि से कई बार भगवान महावीर को जैन धर्म का संस्थापक मान लिया जाता है, किंतु जैन दर्शन के अनुसार यह धारणा सही नहीं है। भगवान महावीर वर्तमान अवसर्पिणी काल के **24वें एवं अंतिम तीर्थकर** हैं। उन्होंने इस प्राचीन, शाश्वत धर्म को अपने समय में पुनः जागृत, व्यवस्थित, अनुशासित और प्रचारित किया, न कि किसी नए मत की शुरुआत की।

3. वर्तमान अवसर्पिणी के तीर्थकर

वर्तमान अवसर्पिणी (ह्रास काल) में धर्म-तीर्थ की स्थापना, उसके विकास और संरक्षण का क्रम अत्यंत सुव्यवस्थित और चरणबद्ध रहा है। जैन दर्शन के अनुसार, यह केवल व्यक्तियों का इतिहास नहीं, बल्कि मानवता के आध्यात्मिक और सामाजिक विकास की क्रमिक यात्रा है।

इस व्यवस्था और तीनों चरणों का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है:

1. **प्रथम तीर्थंकर:** भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ) — कर्मभूमि और धर्मतीर्थ के आद्य प्रवर्तक काल संक्रांति (भोगभूमि से कर्मभूमि का संक्रमण): भगवान ऋषभदेव का जन्म तीसरे आरे (सुषमा-दुषमा) के अंतिम भाग में हुआ। यह वह समय था जब कल्पवृक्षों से अनायास मिलने वाली सुख-सुविधाएं समाप्त हो रही थीं और प्रकृति में स्वतः भोजन-वस्त्र मिलना बंद हो गया था। समाज में भय, भ्रम और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई थी।

अस-मसि-कृषि और व्यावहारिक व्यवस्था: ऋषभदेव ने केवल आध्यात्मिक उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि पहले मानवता को जीवित रहने के व्यावहारिक साधन सिखाए। उन्होंने समाज को तीन मुख्य आजीविकाएँ सिखाईं:

असि (रक्षा/शस्त्र): न्याय और समाज की सुरक्षा।

मसि (लेखन/विद्या): ज्ञान, लिपि और हिसाब-किताब।

कृषि (खेती/शिल्प): अन्न उत्पादन और व्यापार। उन्होंने पुरुषों के लिए 72 कलाएँ और स्त्रियों के लिए 64 कलाएँ स्थापित कीं तथा विवाह व राज्य-प्रणाली की नींव रखी।

धर्म-तीर्थ की स्थापना: सांसारिक व्यवस्था सुदृढ़ करने के बाद उन्होंने राज्य त्यागकर दीक्षा ली। घोर तपस्या के पश्चात केवलज्ञान (सर्वज्ञता) प्राप्त किया और इस युग के प्रथम धर्मतीर्थ की स्थापना की। उन्होंने चतुर्विध संघ (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) का गठन किया और 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह' का मार्ग प्रशस्त किया।

2. मध्य के 22 तीर्थंकर (अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक) — धर्म-परंपरा का पुनरुद्धार एवं निरंतरता भगवान ऋषभदेव के बाद चौथे आरे (दुषमा-सुषमा) में 22 तीर्थंकरों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें द्वितीय तीर्थंकर भगवान अजितनाथ से लेकर 23वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ तक सम्मिलित हैं:

काल प्रभाव और धर्म का क्षय: काल-चक्र के चौथे आरे में समय के प्रभाव से मनुष्यों की आयु, बल, स्मृति और धार्मिक निष्ठा में धीरे-धीरे ह्रास (कमी) आने लगा। जब-जब कालदोष के कारण धर्म का मार्ग शिथिल हुआ या विकृतियाँ आने लगीं, तब-तब एक नए तीर्थंकर ने जन्म लिया।

समान तत्त्वज्ञान, समयानुकूल देशना: सभी तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित मूल सिद्धांत—जीव, अजीव, कर्म सिद्धांत, और मोक्षमार्ग—सदा एक समान रहे। परंतु उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों और जनमानस की बौद्धिक क्षमता के अनुसार धर्म की व्याख्या की।

ऐतिहासिक कड़ी एवं भगवान पार्श्वनाथ:

नेमिनाथ (22वें तीर्थंकर): महाभारत कालीन श्रीकृष्ण के समकालीन थे, जिन्होंने जीवदया और करुणा का प्रबल संदेश दिया।

पार्श्वनाथ (23वें तीर्थंकर): भगवान महावीर से लगभग 250 वर्ष पूर्व हुए। उन्होंने चातुर्याम धर्म (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह) का उपदेश दिया। उनका संघ अत्यंत विशाल और संगठित था, जिसने तत्कालीन समाज में फैली हिंसात्मक बलि-प्रथाओं को रोककर अहिंसा की गहरी नींव डाली।

3. **24वें तीर्थंकर: भगवान महावीर** — अंतिम संहिताबद्धता और वर्तमान शासन चौथे आरे का संधिकाल: भगवान महावीर का जन्म चौथे आरे के अंत में हुआ (उनके मोक्ष गमन के मात्र 3 वर्ष और 8.5 महीने बाद पांचवां आरा दुषमा प्रारंभ हुआ)।

पंच महाव्रत की स्पष्ट व्यवस्था: भगवान पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य को एक स्वतंत्र और अनिवार्य महाव्रत के रूप में स्पष्ट रूप से जोड़कर 'पंच महाव्रत' की सुदृढ़ आचार-संहिता बनाई। यह तत्कालीन समय में इंद्रिय-संयम को स्पष्ट दिशा देने के लिए आवश्यक था।

अनेकांतवाद और स्याद्वाद का दार्शनिक ढांचा: महावीर स्वामी के काल में अनेक दार्शनिक मत-मतांतर और बौद्धिक संघर्ष चल रहे थे। उन्होंने सत्य को किसी एक दृष्टिकोण से न देखकर संपूर्णता में देखने के लिए अनेकांतवाद (Non-absolutism) और स्याद्वाद (सापेक्षता की भाषा) का अमर सिद्धांत दिया, जिससे वैचारिक हिंसा समाप्त हुई।

गणधर परंपरा और आगम रचना: भगवान महावीर ने अपनी दिव्य देशना (वाणी) को अपने प्रमुख 11 गणधरों (विशेषकर इंद्रभूति गौतम स्वामी) के माध्यम से द्वादशांगी (12 मूल आगमों) के रूप में संहिताबद्ध कराया।

वर्तमान शासन काल: जैन परंपरा के अनुसार वर्तमान समय (पंचम आरा) भगवान महावीर का शासन काल (तीर्थ-परंपरा) कहलाता है। जब तक अगला उत्सर्पिणी काल नहीं आता, तब तक भगवान महावीर द्वारा स्थापित आचार-धर्म और आगम-ज्ञान ही मोक्षमार्ग का प्रकाश स्तंभ बना रहेगा।

निष्कर्ष इस प्रकार, वर्तमान अवसर्पिणी में:

ऋषभदेव ने धर्म की नींव रखी और समाज का निर्माण किया।

मध्य के 22 तीर्थंकरों ने उस ज्योति को जलते रखा और धर्म को समय-समय पर परिष्कृत किया।

महावीर स्वामी ने इसे आने वाले विषम कालों (पंचम आरे) के लिए दृढ़, तार्किक और संहिताबद्ध स्वरूप प्रदान किया।

4. तीर्थंकरों का मूल उद्देश्य और रत्नत्रय का मार्ग

जैन दर्शन के अनुसार ब्रह्मांड और काल दोनों अनादि और अनंत हैं। जब भी काल-चक्र के अनुसार उपयुक्त परिस्थितियाँ निर्मित होती हैं, तीर्थंकर धर्म के मार्ग को पुनः प्रकट करते हैं।

तीर्थकरों का मूल उद्देश्य जीवों को कर्मों के बंधन से मुक्त कराकर शाश्वत मोक्ष (मुक्ति) का मार्ग दिखाना है। यह मार्ग **रत्नत्रय** (तीन प्रमुख रत्नों) पर आधारित है:

1. **सम्यग् दर्शन (Right Faith):** सत्य और यथार्थ तत्वों के प्रति अटूट, निर्मल और निष्कपट श्रद्धा।
2. **सम्यग् ज्ञान (Right Knowledge):** आत्मा, शरीर, जीव, अजीव और जगत के वास्तविक स्वरूप का संशय-रहित, यथार्थ ज्ञान।
3. **सम्यग् चारित्र (Right Conduct):** अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सिद्धांतों पर आधारित पवित्र और संयमित जीवन शैली।

तीर्थकर अपने व्यक्तिगत जीवन के कठोर तप, आत्म-साधना, केवलज्ञान और उपदेशों (देशना) के माध्यम से संसार के समस्त जीवों के लिए प्रेरणा, प्रकाश और कल्याण के सर्वोच्च प्रतीक हैं।

क्र.	तीर्थकर	संक्षिप्त परिचय	लांछन (प्रतीक)
1	ऋषभदेव (आदिनाथ)	प्रथम तीर्थकर। जैन परम्परा में इन्हें मानव समाज को कृषि, शिल्प, व्यापार और सामाजिक जीवन की शिक्षा देने वाला माना जाता है। इनके पिता नाभिराय और माता मरुदेवी थीं।	 वृषभ
2	अजितनाथ	द्वितीय तीर्थकर। इनके पिता जितशत्रु और माता विजयादेवी थीं। इनका जीवन वैराग्य और आत्मसंयम का आदर्श माना जाता है।	 हाथी
3	संभवनाथ	तृतीय तीर्थकर। इनके पिता जितारि और माता सेनादेवी थीं। इन्होंने अहिंसा, संयम और आत्मशुद्धि का मार्ग बताया।	 घोड़ा
4	अभिनंदननाथ	चतुर्थ तीर्थकर। इनके पिता संवर और माता सिद्धार्था थीं। इनका जीवन त्याग और आध्यात्मिक साधना का उदाहरण है।	 वानर

5	सुमतिनाथ	पंचम तीर्थकर। इनके पिता मेघ और माता मंगला थीं। सुमति अर्थात् सद्बुद्धि इनके नाम का प्रमुख अर्थ है।	 चक्रवाक
6	पद्मप्रभु	षष्ठ तीर्थकर। इनके पिता धरण और माता सुसीमा थीं। इनके नाम का सम्बन्ध कमल से है।	 लाल कमल
7	सुपार्श्वनाथ	सप्तम तीर्थकर। इनके पिता प्रतिष्ठ और माता पृथ्वी थीं। इनके नाम का अर्थ श्रेष्ठ या सुंदर पार्श्व वाला माना जाता है।	 स्वस्तिक
8	चंद्रप्रभु	अष्टम तीर्थकर। इनके पिता महासेन और माता लक्ष्मणा थीं। इनके नाम का अर्थ चन्द्रमा के समान प्रभायुक्त है।	 अर्धचन्द्र
9	पुष्पदंत (सुविधिनाथ)	नवम तीर्थकर। पुष्पदंत को सुविधिनाथ भी कहा जाता है। इनके पिता सुग्रीव और माता रामा थीं।	 मगर
10	शीतलनाथ	दशम तीर्थकर। इनके पिता दृढरथ और माता नन्दा थीं। इनके नाम में शीतलता और मानसिक शान्ति का भाव निहित है।	 कल्पवृक्ष/श्री वत्स*
11	श्रेयांसनाथ	एकादश तीर्थकर। इनके पिता विष्णु और माता विष्णुदेवी थीं। श्रेयांस का अर्थ कल्याण या मंगल से जुड़ा है।	 गैंडा
12	वासुपूज्य	द्वादश तीर्थकर। इनके पिता वसुपूज्य और माता जयादेवी थीं। इनका जन्म चम्पापुरी में माना जाता है।	 भैंसा

13	विमलनाथ	त्रयोदश तीर्थकर। इनके पिता कृतवर्मा और माता श्यामा थीं। विमल का अर्थ निर्मल या शुद्ध है।	 वराह
14	अनंतनाथ	चतुर्दश तीर्थकर। इनके पिता सिंहसेन और माता सर्वयशा थीं। नाम में अनन्तता का भाव निहित है।	 बाज/फाल्कन
15	धर्मनाथ	पन्द्रहवें तीर्थकर। इनके पिता भानु और माता सुव्रता थीं। इन्होंने धर्म, संयम और आत्मशुद्धि का मार्ग दिखाया।	 वज्र
16	शान्तिनाथ	सोलहवें तीर्थकर। इनके पिता विश्वसेन और माता ऐरा थीं। वे शान्ति और अहिंसा के विशेष प्रतीक माने जाते हैं।	 मृग
17	कुंथुनाथ	सत्रहवें तीर्थकर। इनके पिता सूर्यसेन और माता श्रीदेवी थीं। इनका जीवन संयम और वैराग्य का आदर्श है।	 बकरा
18	अरनाथ	अठारहवें तीर्थकर। इनके पिता सुदर्शन और माता मित्रा थीं। उन्होंने संसार के प्रति वैराग्य और आत्मसंयम का मार्ग अपनाया।	 मछली
19	मल्लिनाथ	उन्नीसवें तीर्थकर। श्वेताम्बर परम्परा इन्हें स्त्री तीर्थकर मानती है, जबकि दिगम्बर परम्परा इन्हें पुरुष मानती है।	 कलश
20	मुनिसुव्रतनाथ	बीसवें तीर्थकर। इनके पिता सुमित्र और माता पद्मावती थीं। सुव्रत अर्थात् उत्तम व्रतों का पालन करने वाले।	 कछुआ

21	नमिनाथ	इक्कीसवें तीर्थकर। इनके पिता विजय और माता विप्रा थीं। इनका जीवन वैराग्य और संयम का आदर्श माना जाता है।	 नीलकमल
22	अरिष्टनेमि (नेमिनाथ)	बाईसवें तीर्थकर। कृष्ण के चचेरे भाई माने जाते हैं। विवाह के समय पशुओं की पीड़ा देखकर उन्होंने वैराग्य ग्रहण किया।	 शंख
23	पार्श्वनाथ	तेईसवें तीर्थकर और ऐतिहासिक रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण। उन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के चार महाव्रतों का उपदेश दिया।	 सर्प
24	महावीर स्वामी (वर्धमान)	चौबीसवें और वर्तमान अवसरिणी के अन्तिम तीर्थकर। उन्होंने कठोर तप और साधना के बाद केवलज्ञान प्राप्त किया और अहिंसा, अनेकान्तवाद तथा अपरिग्रह पर आधारित धर्मसंघ को व्यवस्थित किया।	 सिंह

इस प्रकार जैन दर्शन में तीर्थकर परंपरा को किसी एक व्यक्ति द्वारा स्थापित धर्म के रूप में नहीं, बल्कि **अनादि काल से चलने वाली आध्यात्मिक परंपरा** के रूप में देखा जाता है। प्रत्येक कालचक्र में तीर्थकर अपने समय के जीवों के लिए मुक्ति का मार्ग प्रकाशित करते हैं।

इस पूरी अवधारणा में जैन दर्शन के तीन महत्वपूर्ण सिद्धांत एक-दूसरे से जुड़े हुए दिखाई देते हैं—**पुरुषार्थ, कर्म और मोक्ष**। जीव अपने पुरुषार्थ से कर्मों का क्षय करता है, कर्मों के पूर्ण नाश से पुनर्जन्म समाप्त होता है और अंततः आत्मा सिद्ध अवस्था को प्राप्त करती है। इसलिए जैन दर्शन में तीर्थकर किसी दिव्य अवतार के रूप में नहीं, बल्कि **मानव से आध्यात्मिक पूर्णता तक की यात्रा के सर्वोच्च आदर्श** के रूप में समझे जाते हैं।

1. अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का एक प्रमुख और विशिष्ट सिद्धांत है। **‘अनेकान्त’ का अर्थ है—वास्तविकता के अनेक पक्ष होना। जैन दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु को केवल एक ही दृष्टिकोण से पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म या विशेषताएँ होती हैं और वे अलग-अलग अपेक्षाओं से सत्य हो सकती हैं।**

उदाहरण के लिए, एक वस्तु को एक दृष्टि से **स्थायी** कहा जा सकता है, क्योंकि उसका मूल द्रव्य बना रहता है; वहीं दूसरी दृष्टि से उसे **परिवर्तनशील** कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी अवस्थाएँ लगातार बदलती रहती हैं। इसलिए किसी एक पक्ष को देखकर यह मान लेना कि वही पूर्ण सत्य है, उचित नहीं है। हमें अलग-अलग अपेक्षाओं और दृष्टिकोणों से वस्तु के विभिन्न पक्षों को समझने का प्रयास करना चाहिए। इसी दृष्टि से अनेकान्तवाद को **वस्तु की बहुआयामी वास्तविकता को समझने का सिद्धांत** कहा जा सकता है।

2. अहिंसा

अहिंसा जैन धर्म और दर्शन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है। सामान्य अर्थ में हिंसा का अर्थ किसी प्राणी को मारना या शारीरिक रूप से नुकसान पहुँचाना माना जाता है। लेकिन जैन दर्शन हिंसा की अवधारणा को इससे कहीं अधिक व्यापक और सूक्ष्म रूप में समझाता है।

जैन दृष्टि से हिंसा केवल शरीर से किसी को नुकसान पहुँचाना नहीं है। **मन से किसी के प्रति बुरा विचार रखना, वचन से कठोर या हानिकारक शब्द बोलना और शरीर से किसी को कष्ट पहुँचाना**—ये सभी हिंसा के रूप हो सकते हैं। इसलिए अहिंसा केवल हत्या न करने का नाम नहीं है, बल्कि मन, वचन और शरीर से ऐसी प्रवृत्तियों से बचना है जिनसे किसी जीव को पीड़ा या हानि पहुँचती है।

अहिंसा का सकारात्मक अर्थ केवल “हिंसा न करना” नहीं, बल्कि **सभी जीवों के प्रति करुणा, मैत्री और संवेदनशीलता का विकास करना** भी है।

3. अपरिग्रह

सामान्य रूप से धन, संपत्ति, वस्तुओं, पशु-पक्षियों आदि का संग्रह **परिग्रह** और उनका त्याग **अपरिग्रह** माना जाता है। लेकिन जैन दर्शन में अपरिग्रह की अवधारणा इससे अधिक गहरी है।

जैन दर्शन के अनुसार केवल किसी वस्तु का हमारे पास होना ही परिग्रह नहीं है। वास्तविक परिग्रह उस वस्तु के प्रति **मूर्च्छा या आसक्ति** है। इसी प्रकार किसी वस्तु का हमारे पास न होना मात्र अपरिग्रह नहीं है। यदि वस्तु हमारे पास नहीं है, लेकिन उसके प्रति अत्यधिक लालसा या आसक्ति है, तो मानसिक रूप से परिग्रह बना हुआ है।

इसलिए जैन दर्शन में अपरिग्रह का मूल अर्थ है—**वस्तुओं के प्रति अनावश्यक आसक्ति और संग्रह की भावना से मुक्त होना**। इसका संबंध बाहरी संपत्ति के साथ-साथ मानसिक इच्छाओं और आसक्तियों से भी है।

4. आत्मकर्तृत्ववाद

जैन दर्शन **आत्मकर्तृत्ववाद** को स्वीकार करता है। इसके अनुसार व्यक्ति अपने सुख-दुःख, बंधन और मोक्ष के लिए स्वयं उत्तरदायी है। इनका निर्माण किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर द्वारा नहीं किया जाता।

व्यक्ति जिस प्रकार के कर्म करता है और जिस प्रकार का पुरुषार्थ करता है, उसी के अनुसार उसे परिणाम प्राप्त होते हैं। इसलिए जैन दर्शन में **कर्म और पुरुषार्थ** का विशेष महत्व है। मनुष्य अपने वर्तमान कर्मों के माध्यम से अपने भविष्य को प्रभावित कर सकता है और साधना के द्वारा कर्मबंधन से मुक्त भी हो सकता है।

इस सिद्धांत का मूल संदेश है—**मनुष्य अपने आध्यात्मिक विकास का स्वयं कर्ता है।**

5. साम्यवाद

जैन दर्शन की दृष्टि से संसार के सभी जीवों में उनकी मूल आध्यात्मिक क्षमता की दृष्टि से समानता है। चाहे कोई जीव **एकेन्द्रिय** हो या पंचेन्द्रिय, प्रत्येक जीव में आत्मा विद्यमान है और प्रत्येक आत्मा में अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने की संभावना है।

जीवों में जो भिन्नताएँ दिखाई देती हैं—जैसे सुख-दुःख, बुद्धि, शरीर, परिस्थितियाँ और जीवन की अवस्थाएँ—उनका प्रमुख कारण **कर्मों का आवरण और पूर्वकृत कर्म** माना जाता है। इसलिए किसी जीव की वर्तमान स्थिति को देखकर उसकी मूल आध्यात्मिक क्षमता को कम या अधिक नहीं माना जा सकता।

इस दृष्टि से जैन दर्शन **सभी जीवों की आध्यात्मिक समानता** पर बल देता है।

6. ज्ञान और क्रिया का समन्वय

जैन दर्शन में **ज्ञान और आचरण दोनों** को महत्वपूर्ण माना गया है। जैन साधना का आधार **रत्नत्रय** है—**सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र**।

केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना पर्याप्त नहीं है, यदि वह जीवन में आचरण के रूप में दिखाई न दे। उसी प्रकार केवल बाहरी आचरण भी पर्याप्त नहीं है, यदि उसके पीछे सही दृष्टि और सही ज्ञान न हो। इसलिए जैन दर्शन में **ज्ञान और क्रिया का समन्वय** आवश्यक माना गया है।

सम्यग्दर्शन सही दृष्टिकोण प्रदान करता है, सम्यग्ज्ञान वस्तु और सत्य का सही ज्ञान देता है और सम्यक्चारित्र उस ज्ञान को जीवन में व्यवहार के रूप में स्थापित करता है। इन तीनों के समन्वय से ही मोक्षमार्ग की पूर्णता होती है।

7. परमात्म-पद

जैन दर्शन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक आत्मा में **परमात्मा बनने की संभावना** स्वीकार की गई है। परमात्मा कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो केवल किसी एक विशेष व्यक्ति के लिए आरक्षित हो।

प्रत्येक जीव की आत्मा में अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति की संभावना विद्यमान है। कर्मों के कारण ये गुण ढके हुए हैं। जब जीव अपने कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय कर देता है, तब वह अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है और **सिद्ध या परमात्म-पद** को प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार जैन दर्शन मनुष्य को केवल किसी बाहरी परम सत्ता पर निर्भर रहने के बजाय अपने पुरुषार्थ और आत्मशुद्धि की ओर प्रेरित करता है।

8. मानव जाति की एकता

जैन दर्शन में मनुष्य को जन्म के आधार पर ऊँचा या नीचा मानने की प्रवृत्ति का समर्थन नहीं किया जाता। जैन दृष्टि से **मनुष्य जाति मूल रूप से एक है**। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसे सामाजिक विभाजन व्यक्ति की जन्मगत आध्यात्मिक योग्यता को निर्धारित नहीं करते।

मनुष्य की सामाजिक भूमिकाएँ और कार्य अलग-अलग हो सकते हैं, लेकिन इन भिन्नताओं के आधार पर किसी व्यक्ति को श्रेष्ठ या हीन मानना उचित नहीं है। व्यक्ति की वास्तविक महानता उसके **आचरण, गुण और आध्यात्मिक विकास** से निर्धारित होती है, न कि केवल जन्म से।

इस दृष्टि से जैन दर्शन मानव समानता और नैतिक आचरण को महत्व देता है।

Concept of Kalchakras and details of Kulkaras

समय चक्र

जैन दर्शन में **समय** एक महत्वपूर्ण दार्शनिक अवधारणा है। समय को केवल दिन, महीने या वर्ष के रूप में नहीं, बल्कि **परिवर्तन और अवस्था के क्रम** के रूप में समझा जाता है। जैन परंपरा में समय के स्वरूप को लेकर दिगंबर और श्वेतांबर मतों में अंतर है। **दिगंबर परंपरा समय को स्वतंत्र द्रव्य मानती है**, जबकि **श्वेतांबर परंपरा इसे स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानती** और पदार्थों में होने वाले परिवर्तन तथा उनकी क्रियाओं के आधार पर समय को समझती है।

दिगंबर जैन दर्शन के अनुसार ब्रह्मांड में **छह द्रव्य** हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें **काल अर्थात् समय भी एक स्वतंत्र द्रव्य** है। हालांकि काल अन्य पाँच द्रव्यों से भिन्न है, क्योंकि इसे अस्तिकाय नहीं माना जाता। समय का संबंध मुख्य रूप से **परिवर्तन (परिणमन)** से है। संसार के सभी पदार्थ अपनी अवस्थाओं में निरंतर परिवर्तन करते रहते हैं और समय इन परिवर्तनों के क्रम को समझने में सहायक होता है।

जैन दर्शन में समय को **निरंतर प्रवाहमान** माना जाता है। इसे देखा, सुना या छुआ नहीं जा सकता। समय के प्रत्येक क्षण की अपनी विशिष्टता होती है और एक क्षण के बाद दूसरा क्षण आता रहता है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह निरंतर चलता रहता है, उसी प्रकार समय भी निरंतर आगे बढ़ता रहता है। समय स्वयं अन्य पदार्थों की तरह परिवर्तनशील नहीं है, बल्कि **अन्य पदार्थों के परिवर्तन और परिणमन में सहायक** होता है।

जैन दर्शन में समय को **चक्राकार** भी माना गया है। समय का यह चक्र निरंतर चलता रहता है और इसमें संसार की परिस्थितियों तथा जीवों की स्थिति में क्रमशः परिवर्तन होता है। इसी आधार पर जैन दर्शन में समय को दो प्रमुख भागों में बाँटा गया है—**उत्सर्पिणी** और **अवसर्पिणी**। उत्सर्पिणी में संसार की परिस्थितियाँ क्रमशः **उन्नति की ओर** जाती हैं, जबकि अवसर्पिणी में वे क्रमशः **अवनति की ओर** जाती हैं। इस प्रकार **समय चक्र संसार में होने वाले निरंतर परिवर्तन और उत्थान-पतन का प्रतीक है।**

जैन दर्शन के अनुसार **सृष्टि अनादि और अनन्त** है। इसका न तो कभी पूरी तरह से विनाश होता है और न ही सब कुछ नया उत्पन्न होता है। वस्तुओं में **उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य** के कारण निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार **काल का चक्र भी अनादि काल से निरन्तर चलता आ रहा है।**

व्यवहार की सुविधा के लिए इस कालचक्र को दो भागों में बाँटा गया है—

1. **अवसर्पिणी काल** — इसमें संसार और जीवों की स्थिति में धीरे-धीरे **हास** होता है।
2. **उत्सर्पिणी काल** — इसमें संसार और जीवों की स्थिति में धीरे-धीरे **विकास** होता है।

इन दोनों कालों के **छः-छः भाग** होते हैं। इस प्रकार एक पूरा कालचक्र **बारह आराओं** से मिलकर बनता है।

अवसर्पिणी काल में क्या होता है?

अवसर्पिणी काल में धीरे-धीरे—

- मनुष्यों की आयु कम होती है।
- शरीर की **ऊँचाई और शक्ति में कमी** आती है।
- स्वास्थ्य कमजोर होता है।
- बुद्धि और मानसिक क्षमता में हास होता है।
- मनुष्यों की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ बढ़ती हैं।
- सभ्यता और जीवन-व्यवस्था में परिवर्तन आता है।
- लोगों में **क्रोध, लोभ, मोह आदि भावनाएँ** बढ़ने लगती हैं।
- अपराध और संघर्ष भी बढ़ने लगते हैं।

कालचक्र की निरन्तर गति

- जैसे कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा धीरे-धीरे घटता हुआ अमावस्या को लगभग अदृश्य हो जाता है और फिर शुक्ल पक्ष में पुनः बढ़ने लगता है, उसी प्रकार संसार में भी विकास और हास का क्रम चलता रहता है।
- विकास की चरम अवस्था के बाद धीरे-धीरे **पतन प्रारम्भ होता है** और अन्ततः पूर्ण हास की स्थिति आती है।
- इसके बाद पुनः विकास का क्रम शुरू होता है।

- इस प्रकार विकास → चरम अवस्था → ह्रास → पूर्ण ह्रास → पुनः विकास का क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है।
- इसी निरन्तर परिवर्तन के साथ कालचक्र भी लगातार गतिशील रहता है।
- एक पूर्ण कालचक्र की अवधि 20 कोड़ाकोड़ी सागर मानी गई है।

इसके विपरीत, उत्सर्पिणी काल में इन सभी स्थितियों में क्रमशः सुधार और विकास होता है।

उत्सर्पिणी का अर्थ है— ऊपर की ओर जाने वाला काल।

इस काल में संसार और जीवों की स्थिति में धीरे-धीरे विकास होता है।

इसमें—

- मनुष्यों की आयु बढ़ती जाती है।
- शरीर की ऊँचाई और शक्ति में वृद्धि होती है।
- स्वास्थ्य में सुधार होता है।
- रुचि और जीवन-स्तर में विकास होता है।
- बुद्धि और क्षमताओं में वृद्धि होती है।
- सभ्यता और संस्कृति विकसित होती है।
- भौगोलिक परिस्थितियों में भी क्रमशः सुधार होता है।
- शरीर, आयुष्य, संहनन, संस्थान आदि में विकास होता है।

इसलिए इसे उत्सर्पिणी काल कहा जाता है।

आसान उदाहरण

- घड़ी की सुई 6 से 12 की ओर जाती है तो वह ऊपर की ओर जाती दिखाई देती है।
- इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल में जीवन की परिस्थितियाँ ह्रास से विकास की ओर जाती हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार कालचक्र

आचार्य महाप्रज्ञ ने ऋषभायण में कालचक्र को परिवर्तन का आधार बताया है। उनके अनुसार काल जल के प्रवाह की तरह निरन्तर चलता रहता है। कालचक्र के बारह आरे लगातार गतिशील हैं। अवसर्पिणी में वस्तुओं के गुणों का क्रमशः ह्रास होता है, जबकि उत्सर्पिणी में उन्हीं गुणों का क्रमशः विकास होता है।

कल्पवृक्ष और मानव जीवन

अवसर्पिणी के प्रारम्भिक तीन आरों और उत्सर्पिणी के अन्तिम तीन आरों में मनुष्यों की अधिकांश आवश्यकताएँ **कल्पवृक्षों** के माध्यम से पूरी होती हैं। उस समय मनुष्यों में क्रोध, लोभ, हिंसा और अन्य आवेश बहुत कम या नहीं होते।

लेकिन जैसे-जैसे अवसर्पिणी काल आगे बढ़ता है, **कल्पवृक्षों की शक्ति कम होने लगती है**। परिणामस्वरूप मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वयं प्रयास करना पड़ता है। इससे इच्छाएँ, संघर्ष और अपराध बढ़ने लगते हैं।

काल चक्र को समझना — समय चक्र

जैन दर्शन में **काल (समय)** की अवधारणा बहुत महत्वपूर्ण है। सामान्य रूप से काल और समय शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया जाता है, लेकिन जैन दर्शन में इनके सूक्ष्म अर्थों में अंतर किया गया है। **समय** समय की सबसे छोटी और अविभाज्य इकाई है, जबकि **काल** एक निश्चित अवधि या समय की व्यापक अवधारणा को दर्शाता है। इस प्रकार समय को काल की सूक्ष्मतम इकाई के रूप में समझा जा सकता है।

जैन दर्शन में समय को दो दृष्टियों से समझाया जाता है—**व्यवहार काल** और **निश्चय या परमार्थ काल**। व्यवहार काल वह समय है जिसे हम सामान्य जीवन में **सेकंड, मिनट, घंटे, दिन, महीने और वर्ष** के रूप में अनुभव और मापते हैं। इसके आधार पर हम किसी वस्तु को नया या पुराना तथा किसी घटना को भूत, वर्तमान या भविष्य के रूप में समझते हैं। इसके विपरीत, निश्चय या वास्तविक काल का संबंध **पदार्थों के निरंतर परिवर्तन और परिणमन** से है। वास्तविक काल स्वयं पदार्थों में परिवर्तन उत्पन्न नहीं करता, बल्कि उनके परिवर्तन में **सहायक** होता है। जैसे चाक को घुमाने में उसके नीचे का आधार सहायक होता है, लेकिन वह स्वयं चाक को नहीं घुमाता।

जैन दर्शन में **समय** को अत्यंत सूक्ष्म और अविभाज्य इकाई माना गया है। इसे पदार्थ के होने वाले सबसे छोटे परिवर्तन से भी जोड़ा जाता है। जिस प्रकार पदार्थ का सबसे छोटा अविभाज्य कण परमाणु माना जाता है, उसी प्रकार समय की सबसे छोटी इकाई **समय (समयाणु)** है। अनेक छोटे-छोटे समय मिलकर बड़ी समय-अवधियों का निर्माण करते हैं, जिन्हें व्यवहार में सेकंड, मिनट, घंटे, दिन आदि के रूप में समझा जाता है।

जैन दर्शन में **काल चक्र** की अवधारणा विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। समय को केवल एक सीधी रेखा की तरह नहीं, बल्कि **चक्र के रूप में निरंतर घूमने वाला** माना जाता है। इस चक्र में संसार की परिस्थितियाँ और जीवों की स्थिति लगातार बदलती रहती हैं। कालचक्र के दो प्रमुख भाग हैं—**उत्सर्पिणी** और **अवसर्पिणी**। उत्सर्पिणी में परिस्थितियाँ क्रमशः **उन्नति की ओर** बढ़ती हैं, जबकि अवसर्पिणी में वे क्रमशः **अवनति की ओर** जाती हैं। दोनों मिलकर समय के निरंतर और चक्रीय प्रवाह को दर्शाते हैं।

जैन ब्रह्मांड-विज्ञान में **कालक्षेत्र** की भी अवधारणा है। जैन मान्यता के अनुसार दिन, रात, महीने और वर्ष जैसी सामान्य समय-व्यवस्था विशेष रूप से **मध्यलोक के उस क्षेत्र** में अनुभव की जाती है जहाँ सूर्य और चंद्रमा की गति होती है। सूर्य और चंद्रमा की गति के कारण दिन और रात तथा अन्य पारंपरिक समय-मानों का अनुभव होता है।

इस प्रकार जैन दर्शन में **व्यवहार काल** वह समय है जिसे हम दैनिक जीवन में मापते और अनुभव करते हैं, जबकि **निश्चय काल** पदार्थों के निरंतर परिवर्तन और परिणमन से संबंधित है। कालचक्र की दृष्टि से समय **अनादि और निरंतर चक्रीय** है; इसमें उत्थान और पतन के क्रम लगातार चलते रहते हैं। यही जैन दर्शन की **समय चक्र की मूल अवधारणा** है।

काल चक्र

जैन दर्शन के अनुसार **काल (समय) अनादि और अनंत** है। इसका न कोई आरंभ है और न कोई अंत। संसार में प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता रहता है। इन निरंतर परिवर्तनों को समझाने के लिए जैन दर्शन में **काल-चक्र** या **समय-चक्र** की अवधारणा प्रस्तुत की गई है। कालचक्र को एक निरंतर चलने वाले चक्र के रूप में समझा जाता है, जो बार-बार घूमता रहता है।

एक पूर्ण **कालचक्र (कल्प या महाकल्प)** दो बराबर भागों से मिलकर बना होता है—**अवसर्पिणी** और **उत्सर्पिणी**। अवसर्पिणी में समय **उन्नति से अवनति की ओर** जाता है, जबकि उत्सर्पिणी में समय **अवनति से उन्नति की ओर** बढ़ता है। दोनों मिलकर एक पूर्ण कालचक्र बनाते हैं और यह चक्र अनंत काल तक दोहराता रहता है।

1. अवसर्पिणी

अवसर्पिणी का अर्थ है—नीचे की ओर जाने वाला समय। इस काल में संसार की परिस्थितियाँ धीरे-धीरे **बेहतर से खराब** होती जाती हैं। सुख, समृद्धि, शक्ति, बुद्धि, जीवन-काल, शारीरिक क्षमता और अन्य सकारात्मक स्थितियाँ क्रमशः कम होती जाती हैं। इसके साथ **दुःख और अशुभ भाव** बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार अवसर्पिणी को **अवनति का काल** कहा जा सकता है।

2. उत्सर्पिणी

उत्सर्पिणी का अर्थ है—ऊपर की ओर जाने वाला समय। इसमें संसार की परिस्थितियाँ **खराब से बेहतर** होती जाती हैं। सुख, समृद्धि, शक्ति, बुद्धि, जीवन-काल और अन्य सकारात्मक स्थितियाँ धीरे-धीरे बढ़ती हैं। दुःख और अशुभ भाव कम होते जाते हैं तथा **शुभ भाव और सुख** बढ़ते जाते हैं। इसलिए उत्सर्पिणी को **उन्नति का काल** कहा जाता है।

3. छह कालखंड

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी—दोनों को **छह-छह क्रमिक कालखंडों** में विभाजित किया गया है। इन छह कालों की अवधि समान नहीं होती। प्रत्येक काल में जीवों की **सुख-दुःख की स्थिति, आयु, शरीर, शक्ति, बुद्धि और सामाजिक परिस्थितियों** में अलग-अलग प्रकार के परिवर्तन होते हैं।

इस प्रकार जैन दर्शन का **कालचक्र** केवल समय के बीतने की अवधारणा नहीं है, बल्कि यह संसार में होने वाले **उत्थान और पतन के निरंतर क्रम** को दर्शाता है। अवसर्पिणी में उन्नति से अवनति और उत्सर्पिणी में अवनति से

उन्नति होती है। दोनों मिलकर एक पूर्ण कालचक्र बनाते हैं और यह चक्र अनादि काल से निरंतर चलता आ रहा है तथा अनंत भविष्य तक चलता रहेगा।

काल-चक्र — जैन दर्शन में संक्षिप्त एवं व्यवस्थित रूप

जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि और अनंत है। इसका न कोई आरंभ है और न अंत। द्रव्य की दृष्टि से संसार नित्य और ध्रुव है, लेकिन पर्याय की दृष्टि से इसमें प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक पदार्थ का परिणमन उसका स्वभाव है। इसलिए संसार में न तो पूर्ण रूप से किसी वस्तु का विनाश होता है और न ही किसी नई वस्तु की पूर्ण उत्पत्ति; बल्कि पुराने पर्याय का आंशिक परिवर्तन होकर नया पर्याय उत्पन्न होता रहता है। इसी निरंतर परिवर्तन के आधार पर काल-चक्र की अवधारणा समझी जाती है।

काल-चक्र की संरचना

जैन दर्शन में काल को चक्र के समान माना गया है। जैसे पहिया कभी ऊपर और कभी नीचे घूमता है, उसी प्रकार काल-चक्र में भी कभी उन्नति और कभी अवनति होती है। एक पूर्ण काल-चक्र में 12 आरे (कालखंड) होते हैं। ये दो भागों में बाँटे जाते हैं—

1. अवसर्पिणी — अवनति की ओर जाने वाला काल
2. उत्सर्पिणी — उन्नति की ओर जाने वाला काल

दोनों में छह-छह आरे होते हैं। अवसर्पिणी समाप्त होने के बाद उत्सर्पिणी आती है और उत्सर्पिणी के बाद पुनः अवसर्पिणी। यह क्रम अनादि-अनंत रूप से चलता रहता है।

एक अवसर्पिणी = 10 कोड़ा-कोड़ी सागरोपम

एक उत्सर्पिणी = 10 कोड़ा-कोड़ी सागरोपम

पूर्ण काल-चक्र = 20 कोड़ा-कोड़ी सागरोपम

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी

अवसर्पिणी में जीवों की आयु, शक्ति, शरीर की ऊँचाई, सुख, बुद्धि, प्राकृतिक संपदा और पर्यावरण की अनुकूलता क्रमशः घटती जाती है। अर्थात् यह उत्कृष्ट स्थिति से निम्न स्थिति की ओर जाने वाला काल है।

इसके विपरीत, उत्सर्पिणी में यही सभी स्थितियाँ क्रमशः बेहतर होती जाती हैं। आयु, शक्ति, शरीर, सुख, बुद्धि और प्राकृतिक समृद्धि में वृद्धि होती है। इसलिए यह निम्न स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति की ओर जाने वाला काल है।

काल-चक्र के 12 आरे

अवसर्पिणी

उत्सर्पिणी

1. सुषमा-सुषमा 1. सुषमा-सुषमा

2. सुषमा 2. सुषमा

3. सुषमा-दुषमा 3. सुषमा-दुषमा

4. दुषमा-सुषमा 4. दुषमा-सुषमा

5. दुषमा 5. दुषमा

6. दुषमा-दुषमा 6. दुषमा-दुषमा

इन छह अवस्थाओं में क्रमशः **सुख से दुःख की ओर** या **दुःख से सुख की ओर** परिवर्तन होता है।

1. सुषमा-सुषमा

यह अवसर्पिणी का सबसे सुखद काल है। इस समय मनुष्यों का जीवन अत्यंत सुखमय होता है। उनकी आयु, शरीर, शक्ति और प्राकृतिक परिस्थितियाँ बहुत उत्तम होती हैं। **कल्पवृक्ष** उनकी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। मनुष्यों को भोजन, वस्त्र, भवन और अन्य आवश्यक वस्तुओं के लिए विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता।

2. सुषमा

इस काल में सुख की स्थिति बनी रहती है, लेकिन पहले आरे की तुलना में **कुछ कमी** आने लगती है। मनुष्यों की आयु, शरीर और प्राकृतिक समृद्धि पहले की अपेक्षा घटने लगती है। फिर भी जीवन सामान्यतः सुखमय रहता है।

3. सुषमा-दुषमा

इस काल में **सुख अधिक और दुःख कम** होता है। प्राकृतिक परिस्थितियों और मनुष्यों की क्षमताओं में पहले की तुलना में कमी आती जाती है। इसी काल के अंत की ओर कल्पवृक्षों की शक्ति समाप्त होने लगती है और मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयास करना पड़ता है।

इसी काल में **प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव** का प्रादुर्भाव माना जाता है। उन्होंने मनुष्यों को कृषि, अग्नि, शिल्प आदि जीवनोपयोगी कलाएँ सिखाईं तथा सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को व्यवस्थित किया। बाद में उन्होंने राज्य का त्याग कर **संयम और आध्यात्मिक साधना** का मार्ग अपनाया और केवलज्ञान प्राप्त करके धर्मतीर्थ की स्थापना की।

4. दुषमा-सुषमा

इस काल में **दुःख की मात्रा बढ़ती है और सुख घटता है**। वर्तमान जैन परंपरा के अनुसार **24 तीर्थंकरों में से अधिकांश**, अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के बाद के 23 तीर्थंकर, इसी आरे में हुए। **भगवान महावीर** भी इसी काल के अंतिम तीर्थंकर हैं।

महावीर के निर्वाण के बाद गौतम स्वामी और फिर सुधर्मा स्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। जैन परंपरा के अनुसार महावीर के निर्वाण के बाद **64 वर्ष तक केवलज्ञान की परंपरा** रही।

5. दुषमा

यह वर्तमान में माना जाने वाला काल है। इसमें सुख की तुलना में **दुःख और कठिनाइयाँ अधिक** हैं। मनुष्यों की आयु, शरीर, शक्ति और प्राकृतिक समृद्धि में लगातार कमी आती है। इस काल में आध्यात्मिक साधना कठिन होती जाती है। जैन परंपरा के अनुसार इस आरे में अनेक उच्च आध्यात्मिक उपलब्धियाँ क्रमशः दुर्लभ या समाप्त हो जाती हैं।

6. दुषमा-दुषमा

यह अवसर्पिणी का **सबसे दुःखमय और निम्नतम काल** है। इस समय सुख, आयु, शक्ति, शरीर और प्राकृतिक संसाधनों में अत्यधिक कमी हो जाती है। वातावरण अत्यंत प्रतिकूल हो जाता है और मनुष्यों का जीवन बहुत कठिन हो जाता है। धर्म और सदाचार भी अत्यंत दुर्लभ हो जाते हैं।

सागरोपम का अर्थ

जैन दर्शन में बहुत लंबी समय-अवधियों को समझाने के लिए **पल्योपम** और **सागरोपम** जैसी विशाल समय-इकाइयों का प्रयोग किया जाता है। पल्योपम को समझाने के लिए जैन ग्रंथों में एक विशाल कुएँ का उदाहरण दिया जाता है, जिसे अत्यंत सूक्ष्म बालों के टुकड़ों से भरकर बहुत लंबे अंतराल के बाद एक-एक टुकड़ा निकालने की

कल्पना की जाती है। उस कुँएँ को पूरी तरह खाली करने में जितना समय लगे, उसे **पल्योपम** कहा जाता है। इससे भी अत्यंत बड़ी समय-इकाई **सागरोपम** है।

इस प्रकार जैन दर्शन का **काल-चक्र केवल समय की गणना का साधन नहीं है**, बल्कि यह संसार में होने वाले **उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तथा सुख-दुःख, उन्नति-अवनति और जीवों की बदलती अवस्थाओं** को समझाने वाली व्यापक दार्शनिक व्यवस्था है। काल अनादि-अनंत है और **अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी का क्रम निरंतर चलता रहता**

उत्सर्पिणी काल — संक्षिप्त रूप

जैन दर्शन के अनुसार उत्सर्पिणी काल में अवसर्पिणी के छह आरे ही होते हैं, लेकिन उनका क्रम विपरीत होता है। अवसर्पिणी जहाँ सुषमा-सुषमा से शुरू होकर दुषमा-दुषमा तक जाती है, वहीं उत्सर्पिणी दुषमा-दुषमा से शुरू होकर सुषमा-सुषमा पर समाप्त होती है। इसमें जीवों की आयु, शक्ति, शरीर, सुख, बुद्धि तथा प्राकृतिक समृद्धि क्रमशः बढ़ती जाती है।

उत्सर्पिणी के छह आरे

1. दुषमा-दुषमा

यह उत्सर्पिणी का पहला और सबसे कठिन चरण है। इसकी अवधि 21,000 वर्ष मानी जाती है। इसके दौरान धीरे-धीरे जीवन की परिस्थितियों में सुधार शुरू होता है और आयु, शक्ति तथा शारीरिक क्षमता बढ़ने लगती है।

2. दुषमा

इस चरण में प्रकृति में अनुकूल परिवर्तन होने लगते हैं। वर्षा और प्राकृतिक संसाधनों की वृद्धि से वनस्पति तथा खाद्य पदार्थ उपलब्ध होने लगते हैं। मनुष्य धीरे-धीरे कठिन जीवन से बाहर निकलकर सामाजिक और व्यवस्थित जीवन की ओर बढ़ते हैं।

3. दुषमा-सुषमा

इस काल में दुःख कम और सुख अधिक होने लगता है। मनुष्यों की आयु, शक्ति और प्राकृतिक समृद्धि में निरंतर वृद्धि होती है। इसी प्रकार का काल अवसर्पिणी के चौथे आरे में भी पाया जाता है। इस चरण में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव आदि महापुरुषों के होने की परंपरा बताई जाती है।

4. सुषमा-दुषमा

इस चरण में सुख की मात्रा और बढ़ती है। धीरे-धीरे कल्पवृक्षों की उत्पत्ति होने लगती है और मनुष्यों की आवश्यकताएँ प्राकृतिक रूप से पूरी होने लगती हैं। परिणामस्वरूप कृषि, व्यापार और अन्य श्रमप्रधान कार्यों की आवश्यकता कम हो जाती है।

5. सुषमा

इस काल में सुख, समृद्धि और प्राकृतिक अनुकूलता और अधिक बढ़ती है। यह अवसर्पिणी के दूसरे आरे के विपरीत दिशा में विकसित होने वाला चरण है।

6. सुषमा-सुषमा

यह उत्सर्पिणी का सबसे सुखद और उत्कृष्ट चरण है। इस समय मनुष्यों की आयु, शक्ति, शरीर, सुख और

प्राकृतिक समृद्धि अपने सर्वोच्च स्तर पर पहुँच जाती है। इसके बाद उत्सर्पिणी समाप्त होकर पुनः अवसर्पिणी का क्रम प्रारंभ होता है।

काल-चक्र का सार

अवसर्पिणी:

सुषमा-सुषमा → सुषमा → सुषमा-दुषमा → दुषमा-सुषमा → दुषमा → दुषमा-दुषमा
(उन्नति से अवनति)

उत्सर्पिणी:

दुषमा-दुषमा → दुषमा → दुषमा-सुषमा → सुषमा-दुषमा → सुषमा → सुषमा-सुषमा
(अवनति से उन्नति)

दोनों मिलकर 20 कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का एक पूर्ण काल-चक्र बनाते हैं। यह चक्र अनादि-अनंत है और निरंतर चलता रहता है।

आध्यात्मिक दृष्टि

जैन दर्शन में समय केवल बाहरी परिवर्तन को मापने का साधन नहीं है। मनुष्य के लिए इसका महत्व आत्म-जागरण और आध्यात्मिक साधना में भी है। भगवान महावीर का प्रसिद्ध उपदेश है—

“समयं गोयम! मा पमाये।”

हे गौतम! समय के एक क्षण के लिए भी प्रमाद मत करो।

इसका सरल अर्थ है कि जीवन का प्रत्येक क्षण मूल्यवान है; उसे प्रमाद में व्यर्थ नहीं करना चाहिए। कालचक्र चलता रहता है, लेकिन मनुष्य के पास वर्तमान क्षण में ही अपने विचार, कर्म और आध्यात्मिक दिशा को बदलने का अवसर होता है।

है।

काल-चक्र के आरे — संक्षेप में

जैन दर्शन के अनुसार एक काल-चक्र दो भागों में विभाजित होता है—**अवसर्पिणी** और **उत्सर्पिणी**। प्रत्येक भाग में **छह आरे** होते हैं। अवसर्पिणी में सुख धीरे-धीरे घटता है और दुःख बढ़ता है।

अवसर्पिणी के **पहले आरे** को **सुषमा-सुषमा** कहा जाता है। यह अत्यंत सुख और समृद्धि का काल है। **दूसरा आरा सुषमा** है, जिसमें सुख बना रहता है, लेकिन पहले की अपेक्षा कम हो जाता है। **तीसरा आरा सुषमा-दुषमा** है, जिसमें सुख अधिक और दुःख कम होता है। इसी आरे में **प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव** का प्रादुर्भाव माना जाता है।

चौथा आरा दुषमा-सुषमा है। इसमें दुःख बढ़ने लगता है, लेकिन सुख अभी भी पर्याप्त रहता है। इसी आरे में ऋषभदेव के बाद के **23 तीर्थंकर**, जिनमें भगवान महावीर अंतिम हैं, हुए। **पाँचवाँ आरा दुषमा** है, जिसमें दुःख और

कठिनाइयाँ बढ़ती हैं। **वर्तमान समय इसी पाँचवें आरे में माना जाता है।** इसके बाद **छठा आरा दुषमा-दुषमा** आएगा, जो अवसर्पिणी का सबसे दुःखमय काल होगा।

छठे आरे के बाद **उत्सर्पिणी** शुरू होगी। इसमें वही छह आरे **उल्टे क्रम** में आएँगे—दुषमा-दुषमा से शुरू होकर सुषमा-सुषमा तक। इस दौरान दुःख और अवनति धीरे-धीरे कम होंगे तथा **आयु, शक्ति, सुख और समृद्धि** बढ़ती जाएगी।

इस प्रकार काल-चक्र का मूल सिद्धांत है—**अवसर्पिणी में सुख से दुःख की ओर और उत्सर्पिणी में दुःख से सुख की ओर गति।** यह चक्र अनादि-अनंत रूप से चलता रहता है। जैन दर्शन की दृष्टि से मनुष्य को वर्तमान जीवन और वर्तमान क्षण का सदुपयोग **आत्म-जागरण, धर्म और सदाचार** के लिए करना चाहिए।

कल्पवृक्षों की व्यवस्था

उस समय मनुष्यों की आवश्यक आवश्यकताएँ **कल्पवृक्षों** से पूरी होती थीं।

कल्पवृक्ष ऐसे दिव्य वृक्ष माने गए हैं, जिनसे मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार आवश्यक वस्तु प्राप्त कर सकता था।

दस प्रकार के कल्पवृक्षों का वर्णन मिलता है—

1. **मातंग** — विभिन्न प्रकार के रस और फल प्रदान करते थे।
2. **भृंग** — सोने और रत्नों के बर्तन उपलब्ध कराते थे।
3. **तूर्यांग** — विभिन्न प्रकार के वाद्य और संगीत सुनाते थे।
4. **दीप** — दीपक की तरह प्रकाश प्रदान करते थे।
5. **ज्योति** — सूर्य के समान प्रकाश देते थे।
6. **चित्रक** — विभिन्न प्रकार की पुष्पमालाएँ प्रदान करते थे।
7. **चित्ररस** — अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन उपलब्ध कराते थे।
8. **मण्यंग** — सोने और रत्नों के आभूषण प्रदान करते थे।
9. **मेघाकार** — मनोहर महल या भवन उपलब्ध कराते थे।
10. **अनंग** — सूक्ष्म और बहुमूल्य वस्तु प्रदान करते थे।

इस प्रकार मनुष्य की **भोजन, वस्त्र, आवास, प्रकाश, आभूषण और मनोरंजन** आदि की आवश्यकताएँ कल्पवृक्षों से ही पूरी हो जाती थीं।

उस समय का मानव जीवन

- मनुष्यों को बहुत कम भोजन की आवश्यकता होती थी।

- वे बहुत थोड़ी मात्रा में वनस्पति ग्रहण करके ही तृप्त हो जाते थे ।
- मनुष्यों में क्रोध, लोभ, मान, माया आदि कषाय बहुत कम या शान्त थे ।
- उनके मन में विकार और अशान्ति नहीं होती थी ।
- मानसिक शान्ति और अनुकूल वातावरण के कारण उनका जीवनकाल बहुत लम्बा होता था ।
- उनका आयुष्य तीन पल्य तक बताया गया है ।
- उस समय अकाल मृत्यु नहीं होती थी।
- व्याधि, आधि और उपाधि जैसी समस्याएँ नहीं थीं ।
- प्राकृतिक वातावरण मनुष्य के जीवन के लिए अत्यन्त अनुकूल था ।
- सभी मनुष्य भद्र, शांतिप्रिय और परस्पर सहयोगी थे ।
- लोगों के बीच लड़ाई-झगड़े या संघर्ष नहीं होते थे ।

हिंसक जीवों की स्थिति

उस समय सिंह, बाघ, साँप और अजगर जैसे हिंसक जीव भी मौजूद थे, लेकिन वे मनुष्यों को नुकसान नहीं पहुँचाते थे। इसलिए मनुष्य और अन्य जीव अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण वातावरण में रहते थे ।

कालचक्र के छह-छह आरे

अवसर्पिणी काल के छह आरे:

1. सुषम-सुषमा
2. सुषमा
3. सुषम-दुषमा
4. दुषम-सुषमा
5. दुषमा
6. दुषम-दुषमा

उत्सर्पिणी काल के छह आरे:

1. दुषम-दुषमा
2. दुषमा
3. दुषम-सुषमा
4. सुषम-दुषमा
5. सुषमा
6. सुषम-सुषमा

इस क्रम से स्पष्ट होता है कि अवसर्पिणी में सुख और विकास की स्थिति से धीरे-धीरे ह्रास की ओर गति होती है, जबकि उत्सर्पिणी में ह्रास की स्थिति से धीरे-धीरे विकास की ओर गति होती है।

सुषम-सुषमा

सुषम-सुषमा अवसर्पिणी काल का प्रथम आरा है। इसका अर्थ है— चारों ओर अत्यधिक सुख और अनुकूलता की स्थिति।

- इसकी अवधि **चार कोड़ाकोड़ी सागर** मानी गई है।
- इस समय पृथ्वी और प्राकृतिक वातावरण अत्यन्त सुखद एवं अनुकूल था।
- भूमि, रंग, गंध, रस और स्पर्श आदि सभी अत्यन्त मनोहर थे।
- मनुष्य का जीवन आज की तुलना में **अत्यन्त सुखी और सुविधापूर्ण** था।
- यद्यपि इसे कर्मभूमि कहा गया है, लेकिन उस समय **कर्मयुग की शुरुआत नहीं हुई थी।**
- मनुष्य खेती, व्यापार, उद्योग आदि के लिए विशेष श्रम नहीं करते थे।
- उस समय **गाँव, नगर, घर, दुकान आदि सामाजिक संस्थाएँ विकसित नहीं हुई थीं।**
- कोई राजा, सेवक या दण्ड-व्यवस्था भी नहीं थी।
- लोग **स्वतन्त्र और शांतिपूर्ण जीवन** जीते थे।
- उनकी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं और उन्हें पूरा करने के लिए विशेष परिश्रम की आवश्यकता नहीं थी।

सुषम-सुषमा — यौगलिक युग

सुषम-सुषमा काल को **यौगलिक युग** कहा जाता है। इस समय मनुष्य अत्यन्त सुखी और शांतिपूर्ण जीवन जीते थे।

- मनुष्य **युगल अर्थात् स्त्री-पुरुष की जोड़ी** के रूप में जन्म लेते थे।
- मृत्यु से कुछ महीने पहले माता-पिता एक **पुत्र-पुत्री के युगल** को जन्म देते थे।
- माता-पिता लगभग **49 दिन तक बच्चों का पालन-पोषण** करते थे।
- इसके बाद माता-पिता की मृत्यु हो जाती थी।
- बड़े होने पर भाई-बहन के रूप में जन्मे ये युगल आगे चलकर **पति-पत्नी** बनते थे।
- इसी कारण इन्हें **यौगलिक मनुष्य** कहा जाता था।
- इनका शरीर लगभग **तीन गाउ ऊँचा** और अत्यन्त मजबूत माना गया है।
- इनके शरीर का **वज्रऋषभनाराच संहनन** था।
- इस प्रकार चार कोटि-कोटि सागर का यह अत्यन्त सुखमय काल बीत गया।

सुषमा — सुख का काल

अवसर्पिणी का दूसरा आरा **सुषमा** कहलाता है। इसमें पहले आरे की तुलना में सुख थोड़ा कम होने लगा और **ह्रास** की प्रक्रिया शुरू हो गई।

- इसकी अवधि **तीन कोटि-कोटि सागर** मानी गई है।
- भोजन अब **दो दिन के अन्तराल** से किया जाने लगा।
- भोजन की मात्रा बढ़कर लगभग **बेर के फल** के बराबर हो गई।
- मनुष्यों की आयु घटकर **दो पल्य** रह गई।
- शरीर की ऊँचाई घटकर लगभग **दो गाउ** हो गई।
- बच्चों का पालन-पोषण अब **64 दिन** तक किया जाने लगा।
- बाकी जीवन-व्यवस्था पहले आरे के समान ही थी।
- लेकिन धीरे-धीरे **सुख, प्राकृतिक समृद्धि और पदार्थों की गुणवत्ता में कमी** आने लगी।
- इस प्रकार इस आरे में सुख बना रहा, लेकिन **ह्रास का क्रम स्पष्ट रूप से शुरू हो गया**।

सुषम-दुषमा — सुख अधिक, दुःख कम

तीसरे आरे को **सुषम-दुषमा** कहा जाता है। इसका अर्थ है— **सुख अधिक और दुःख कम**।

- इसकी अवधि **दो कोटि-कोटि सागर** मानी गई है।
- इस काल में ह्रास की प्रक्रिया और अधिक बढ़ गई।
- भोजन अब **एक दिन के अन्तराल** से होने लगा।
- भोजन की मात्रा बढ़कर लगभग **आँवले के फल** के बराबर हो गई।
- मनुष्यों की आयु घटकर **एक पल्य** रह गई।
- शरीर की ऊँचाई घटकर लगभग **एक गाउ** हो गई।
- पुत्र-पुत्री के पालन-पोषण की अवधि बढ़कर **79 दिन** हो गई।

इस आरे के अन्त में परिवर्तन

- कल्पवृक्षों की शक्ति धीरे-धीरे कम होने लगी।
- वे पहले की तरह पर्याप्त वस्तुएँ प्रदान नहीं कर पाते थे।
- आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई होने लगी।
- परिणामस्वरूप **यौगलिक मनुष्यों में संघर्ष और झगड़े शुरू होने लगे**।
- प्राकृतिक समृद्धि और सहज सुख का क्रमिक ह्रास हुआ।
- भूमि के रस, रंग, गंध और स्पर्श की श्रेष्ठता भी कम होने लगी।
- मनुष्यों में पुराने सहज नियम और अनुशासन कमजोर पड़ने लगे।
- सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए **कुलकर व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ**।
- **भगवान ऋषभदेव का जन्म भी इसी काल में हुआ।**

- अवसर्पिणी के पहले तीन आरे **यौगलिक युग** कहलाते हैं।
- तीसरे आरे के अन्त में **यौगलिक व्यवस्था समाप्त होने लगी** और मानव जीवन में एक बड़ा परिवर्तन आया।

दुषम-सुषमा — दुःख अधिक, सुख भी विद्यमान

अवसर्पिणी के चौथे आरे का नाम **दुषम-सुषमा** है।

- इसकी अवधि लगभग **एक कोटि-कोटि सागर से 42,000 वर्ष कम** मानी गई है।
- इस आरे में सुख और दुःख दोनों थे, लेकिन **दुःख की मात्रा बढ़ने लगी थी**।
- इस काल में **भगवान अजितनाथ से भगवान महावीर तक 23 तीर्थंकरों** का जन्म हुआ।
- भगवान महावीर का निर्वाण इस आरे के समाप्त होने से लगभग **3 वर्ष 8½ महीने पहले** हुआ।
- इस आरे के प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु और शरीर की ऊँचाई वर्तमान मनुष्यों की तुलना में बहुत अधिक थी।
- धीरे-धीरे मानव जीवन में **हास की प्रक्रिया आगे बढ़ती गई**।

दुषमा — दुःख का काल

दुषमा अवसर्पिणी का पाँचवाँ आरा है और **वर्तमान में यही आरा चल रहा है**, जैन परम्परा के अनुसार।

- इसकी अवधि **21,000 वर्ष** मानी गई है।
- इस काल में मनुष्यों की अनेक विशेष आध्यात्मिक शक्तियाँ और उपलब्धियाँ उपलब्ध नहीं रहतीं।
- जैसे—विशिष्ट ज्ञान, विशेष लब्धियाँ, उच्च आध्यात्मिक साधनाएँ और उत्कृष्ट चारित्र आदि का अभाव होता है।
- इस कारण इस काल में जन्म लेने वाला व्यक्ति **मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता**, ऐसी जैन मान्यता है।
- नगरों और गाँवों की व्यवस्था में भी गिरावट आने लगती है।
- सामाजिक जीवन में **उद्दण्डता, दुराचार और भ्रष्टाचार** बढ़ने लगते हैं।
- अकाल और प्राकृतिक कठिनाइयाँ बार-बार आती हैं।
- प्रारम्भ में मनुष्य की आयु लगभग **100 वर्ष या उससे कुछ अधिक** मानी गई है।
- शरीर की ऊँचाई लगभग **7 हाथ** बताई गई है।
- समय बीतने के साथ आयु और शरीर की ऊँचाई लगातार घटती जाएगी।
- अन्त में आयु लगभग **20 वर्ष** और शरीर की ऊँचाई लगभग **1 हाथ** रह जाएगी।

पाँचवें आरे का अन्त

पाँचवें आरे के अन्त में परिस्थितियाँ अत्यन्त कठिन हो जाएँगी।

- इन्द्र द्वारा लोगों को आगामी परिवर्तन की सूचना दिए जाने का वर्णन मिलता है।

- घोषणा की जाएगी कि **छठा आरा शुरू होने वाला है और बहुत बड़ा परिवर्तन आने वाला है**
- उस समय उपस्थित कुछ विशिष्ट साधु-साध्वियाँ और श्रावक-श्राविकाएँ **अनशन करके स्वर्गगमन करेंगे**।
- इसके बाद **छठा आरा प्रारम्भ होगा**।

दुषम-दुषमा — अत्यन्त दुःख का काल

अवसर्पिणी का छठा और अन्तिम आरा **दुषम-दुषमा** कहलाता है। यह अत्यन्त दुःख और कठिनाइयों का काल होगा।

- इसकी अवधि **21,000 वर्ष** मानी गई है।
- इसके प्रारम्भ में भयंकर प्राकृतिक आपदाएँ और विनाशकारी वर्षा होने का वर्णन मिलता है।
- अनेक जीवों की मृत्यु हो जाएगी।
- बचे हुए मनुष्य भय के कारण **बिलों और गुफाओं में रहने लगेंगे**।
- उनका जीवन अत्यन्त असभ्य और कठिन हो जाएगा।
- उनकी अधिकतम आयु लगभग **20 वर्ष** होगी।
- परिवार और जनसंख्या का स्वरूप भी असामान्य होगा।
- कम उम्र में ही स्त्रियों के गर्भधारण का वर्णन मिलता है।
- **काम, क्रोध, मान, माया और लोभ** बहुत अधिक बढ़ जाएंगे।
- मनुष्य छोटी-छोटी बातों पर भी **लड़ते-झगड़ते** रहेंगे।
- फल, शाक और अनाज जैसी खाद्य सामग्री उपलब्ध नहीं होगी।
- भोजन के लिए मुख्यतः **जल-जन्तुओं** पर निर्भरता होगी।
- दिन में अत्यधिक गर्मी और रात में अत्यधिक ठंड होगी।
- इस काल के प्राणी अत्यधिक पाप कर्मों का बन्ध करेंगे।
- मृत्यु के बाद उनके **नरक या तिर्यच गति** में जाने का वर्णन जैन ग्रन्थों में मिलता है।

आरा	नाम	मुख्य विशेषता
1	सुषम-सुषमा	अत्यधिक सुख, यौगलिक जीवन
2	सुषमा	सुख, लेकिन हास का प्रारम्भ

3	सुषम-दुषमा	सुख अधिक, दुःख कम; कुलकर व्यवस्था का प्रारम्भ
4	दुषम-सुषमा	दुःख बढ़ता है, फिर भी सुख विद्यमान
5	दुषमा	दुःख और पतन की प्रधानता; वर्तमान आरा
6	दुषम-दुषमा	अत्यन्त दुःख, अव्यवस्था और कठिन जीवन

KULKAAR

कुलकरों की अवधारणा एवं परिचय (Manu, Kulkar, Yugdhar, Yugadi Purusha)

पुरुषों के लिए 72 कलाओं का विधान माना गया है, जिनमें मुख्य रूप से दो कलाएँ प्रमुख हैं: प्रथम, जीव की आजीविका और द्वितीय, जीव का आध्यात्मिक उद्धार। भोगभूमि (अनायास भोग एवं सुख का युग) की समाप्ति तथा कर्मभूमि (श्रम एवं पुरुषार्थ का युग) के प्रारम्भिक संधिकाल में भयभीत और व्याकुल जीवों को जीवन जीने की कला सिखाने वाले महापुरुष **कुलकर** कहलाते हैं। इन्हें विभिन्न कारणों से विशिष्ट उपाधियाँ दी गई हैं:

- **मनु:** जीवन जीने के उपाय का चिंतन व मार्गदर्शन करने के कारण।
- **कुलकर:** आर्य पुरुषों को संगठित परिवार (कुल) के रूप में रहने का उपदेश देने के कारण।
- **कुलधर:** वंश-परंपरा की स्थापना करने के कारण।
- **युगादि पुरुष:** युग के प्रारंभ में प्रादुर्भूत होने के कारण।

ये चौदह कुलकर अवसर्पिणी काल (ह्रास काल) के तीसरे आरे (सुषमा-दुषमा) में, जब पल्योपम का आठवाँ भाग ($\frac{1}{8}$ पल्य) शेष रह जाता है, तब क्रमशः प्रकट होते हैं।

प्रथम से पंचम कुलकर (प्रतिश्रुति से सीमङ्कर)

1. प्रतिश्रुति (प्रथम कुलकर)

- **पटरानी:** स्वयम्भू
- **शरीर का वर्ण:** हेमवर्ण (स्वर्ण समान)
- **ऊँचाई:** 1,800 धनुष

- आयु: 1/10 पल्य
- जन्मान्तराल: तृतीय काल में 1/8 पल्य शेष रहने पर
- मुख्य योगदान: जब प्रकाश देने वाले तेजाङ्ग कल्पवृक्षों की ज्योति क्षीण हो गई और आषाढ़ पूर्णिमा के दिन आकाश में पहली बार सूर्य और चंद्रमा प्रकट हुए, तब भयभीत प्रजा इनकी शरण में गई। प्रतिश्रुति ने सूर्य-चंद्रमा के उदय और काल-चक्र के स्वरूप को समझाकर जनता का भय दूर किया (तिलोयपण्णत्ती, 4/428-436)।

2. सन्मति (द्वितीय कुलकर)

- पटरानी: यशस्वति
- शरीर का वर्ण: स्वर्ण समान
- ऊँचाई: 13,000 धनुष
- आयु: 1/100 पल्य
- जन्मान्तराल: 1/80 पल्य
- मुख्य योगदान: समस्त तेजाङ्ग कल्पवृक्षों का प्रकाश समाप्त होने से आकाश में ग्रह और तारागण दिखाई देने लगे। इनसे भयभीत प्रजा को उन्होंने समझाया कि यह ज्योतिष्क चक्र हानिरहित है और इसी के माध्यम से दिन व रात के भेद का ज्ञान होगा (तिलोयपण्णत्ती, 4/437-445)।

3. क्षेमङ्कर (तृतीय कुलकर)

- पटरानी: सुनन्दा
- शरीर का वर्ण: स्वर्ण समान
- ऊँचाई: 800 धनुष
- आयु: 1/1,000 पल्य
- जन्मान्तराल: 1/800 पल्य
- मुख्य योगदान: इनके काल में मृग, सिंह आदि पशुओं में उग्रता आने लगी। उन्होंने लोगों को सचेत किया कि कालदोष के प्रभाव से पशुओं के स्वभाव में विकार आ रहा है, अतः उन पर विश्वास न करें और उनसे सुरक्षित दूरी बनाए रखें (तिलोयपण्णत्ती, 4/446-450)।

4. क्षेमन्धर (चतुर्थ कुलकर)

- पटरानी: विमला
- शरीर का वर्ण: स्वर्ण समान
- ऊँचाई: 775 धनुष
- आयु: 1/10,000 पल्य
- जन्मान्तराल: 1/8,000 पल्य

- **मुख्य योगदान:** हिंसक पशु अत्यधिक आक्रामक होकर मनुष्यों पर प्रहार करने लगे थे। इन्होंने आत्मरक्षा के लिए लकड़ी/लाठी आदि द्वारा पशुओं को ताड़ित करने और नियंत्रित करने की शिक्षा दी (तिलोयपण्णत्ती, 4/451-454)।

5. सीमङ्कर (पंचम कुलकर)

- **पटरानी:** मनोहारी
- **शरीर का वर्ण:** स्वर्ण समान
- **ऊँचाई:** 750 धनुष
- **आयु:** 1/1, 00, 000 पल्य
- **जन्मान्तराल:** 1/80, 000 पल्य
- **मुख्य योगदान:** कल्पवृक्षों से फल कम मिलने लगे और लोगों में लोभ बढ़ने से विवाद उत्पन्न होने लगे। सीमङ्कर ने कल्पवृक्षों की सीमाएँ निर्धारित करके मनुष्यों के आपसी संघर्ष को समाप्त किया (तिलोयपण्णत्ती, 4/455-458)।

षष्ठ से दशम कुलकर (सीमन्धर से अभिचन्द्र)

6. सीमन्धर (षष्ठ कुलकर)

- **पटरानी:** यशोधरिणी
- **शरीर का वर्ण:** स्वर्ण समान
- **ऊँचाई:** 725 धनुष
- **आयु:** 1/10, 00, 000 पल्य
- **जन्मान्तराल:** 1/8 लाख पल्य
- **मुख्य योगदान:** कल्पवृक्ष अत्यधिक विरल और अल्प फलदायी हो गए, जिससे कलह बढ़ने लगा। इन्होंने विशेष वृक्षों और पौधों को सीमा-चिह्न मानकर व्यक्तिगत स्वामित्व और सीमाओं का स्पष्ट विभाजन किया (तिलोयपण्णत्ती, 4/460-463)।

7. विमलवाहन (सप्तम कुलकर)

- **पटरानी:** सुमति
- **शरीर का वर्ण:** स्वर्ण समान
- **ऊँचाई:** 700 धनुष
- **आयु:** 1/1, 00, 00, 000 पल्य
- **जन्मान्तराल:** 1/80 लाख पल्य
- **मुख्य योगदान:** पैदल चलने-फिरने से होने वाले शारीरिक कष्ट को देखकर इन्होंने हाथी आदि पशुओं को वश में करके सवारी और आवागमन के साधन के रूप में उपयोग करने का उपदेश दिया (तिलोयपण्णत्ती, 4/464-466)।

8. चक्षुष्मान (अष्टम कुलकर)

- पटरानी: धारिणी
- शरीर का वर्ण: स्वर्ण समान
- ऊँचाई: 675 धनुष
- आयु: 1/10 करोड़ पल्य
- जन्मान्तराल: 1/8 करोड़ पल्य
- मुख्य योगदान: अवधिज्ञान रूपी नेत्रों से संपन्न इस कुलकर ने उन माता-पिताओं का भय दूर किया जो संतान के जन्म के बाद पहली बार जीवित रहे (इससे पहले संतान जन्मते ही माता-पिता की मृत्यु हो जाती थी)। इन्होंने बताया कि संतान की उत्पत्ति सुख और कुल-वृद्धि के लिए होती है (तिलोयपण्णत्ती, 4/467-471)।

9. यशस्वी (नवम कुलकर)

- पटरानी: कान्तमाला
- शरीर का वर्ण: स्वर्ण समान
- ऊँचाई: 650 धनुष
- आयु: 1/100 करोड़ पल्य
- जन्मान्तराल: 1/80 करोड़ पल्य
- मुख्य योगदान: संतान के जन्म के बाद माता-पिता के जीवित रहने की व्यवस्था स्थापित होने पर, इन्होंने संतान के नामकरण संस्कार और जन्मोत्सव मनाने की परंपरा का उपदेश दिया (तिलोयपण्णत्ती, 4/472-475)।

10. अभिचन्द्र (दशम कुलकर)

- पटरानी: श्रीमती
- शरीर का वर्ण: स्वर्ण समान
- ऊँचाई: 625 धनुष
- आयु: 1/1,000 करोड़ पल्य
- जन्मान्तराल: 1/800 करोड़ पल्य
- मुख्य योगदान: इन्होंने रोते हुए शिशुओं को शांत करने के लिए रात्रि में चंद्रमा दिखाकर बहलाने, खेल-कूद कराने, बोलना सिखाने और उनका यत्नपूर्वक पालन-पोषण करने की शिक्षा दी (तिलोयपण्णत्ती, 4/476-480)।

एकादश से चतुर्दश कुलकर (चन्द्राभ से नाभिराय)

11. चन्द्राभ (एकादश कुलकर)

- पटरानी: प्रभावती

- शरीर का वर्ण: स्वर्ण समान
- ऊँचाई: 600 धनुष
- आयु: 1/10, 000 करोड़ पल्य
- जन्मान्तराल: 1/8, 000 करोड़ पल्य
- मुख्य योगदान: तीव्र वायु, अत्यधिक ठंड और कोहरे (तुषार) के कारण जब आकाश के ज्योतिष्क छिप गए और लोग कष्ट पाने लगे, तब इन्होंने समझाया कि भोगभूमि समाप्त हो रही है और कर्मभूमि निकट है। इन्होंने सूर्य की किरणों (धूप) से शीत निवारण करने का मार्ग दिखाया (तिलोयपण्णत्ती, 4/482-488)।

12. मरुदेव (द्वादश कुलकर)

- पटरानी: सत्या (अनुपमा)
- शरीर का वर्ण: स्वर्ण समान
- ऊँचाई: 575 धनुष
- आयु: 1/1 लाख करोड़ पल्य
- जन्मान्तराल: 1/80, 000 करोड़ पल्य
- मुख्य योगदान: मेघों की गर्जना और मूसलाधार वर्षा शुरू होने पर इन्होंने नदियों व जलाशयों को पार करने के लिए नाव व पुल तथा पर्वतों पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों के निर्माण की विधि समझाई (तिलोयपण्णत्ती, 4/489-495)।

13. प्रसेनजित (त्रयोदश कुलकर)

- पटरानी: अमितमति
- शरीर का वर्ण: स्वर्ण समान
- ऊँचाई: 550 धनुष
- आयु: 1/10 लाख करोड़ पल्य
- जन्मान्तराल: 1/8 लाख करोड़ पल्य
- मुख्य योगदान एवं ऐतिहासिक परिवर्तन:
 - इस काल में संतानें जरायु (गर्भ झिल्ली) से लिपटी हुई उत्पन्न होने लगीं; इन्होंने जरायु हटाने और नवजात को स्नान कराने की विधि सिखाई।
 - इनके पिता अमितमति ने इनका विवाह विधिपूर्वक संपन्न कराया। ये प्रथम कुलकर थे जो युगल रूप (जोड़े) में उत्पन्न नहीं हुए, जिसके साथ ही युगल-जन्म का नियम समाप्त हुआ (तिलोयपण्णत्ती, 4/496-500)।

14. नाभिराय (चतुर्दश कुलकर)

- पटरानी: मरुदेवी
- शरीर का वर्ण: स्वर्ण समान

- **ऊँचाई:** 525 धनुष
- **आयु:** 1 पूर्व कोटि
- **जन्मान्तराल:** 1/80 लाख करोड़ पल्य
- **मुख्य योगदान एवं आजीविका का मार्ग:**
 - शिशुओं के जन्म के समय गर्भनाल (नाभिनाल) जुड़ी होने लगी, जिसे सुरक्षित रूप से काटने की विधि इन्होंने सिखाई; इसी कारण इनका नाम **नाभिराय** पड़ा (*तिलोयपण्णत्ती, 4/501-508*)।
 - **आजीविका का मार्गदर्शन:** वर्षा के कारण कल्पवृक्ष पूरी तरह लुप्त हो गए और पृथ्वी पर स्वतः नई वनस्पतियाँ व जंगली धान्य उगने लगे। क्षुधा से व्याकुल प्रजा जब इनके पास पहुँची, तब नाभिराय ने उन्हें उपयोगी/खाने योग्य वनस्पतियों और विषैले त्याज्य वृक्षों का भेद समझाया, जिससे कर्मभूमि में मानव जीवन के निर्वाह की ठोस नींव पड़ी।

■

कुलकरों की आवश्यकता

जब समाज में अपराध और अव्यवस्था बढ़ने लगी, तब लोगों को नियंत्रित करने और सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए **कुलकर व्यवस्था** का प्रारम्भ हुआ।

कुलकर का अर्थ है— **कुल या समाज का प्रमुख व्यक्ति**, जो लोगों को उचित-अनुचित का ज्ञान देता था और समाज में व्यवस्था बनाए रखने में सहायता करता था।

तीन प्रकार की दण्डनीति

अपराधों को नियंत्रित करने के लिए कुलकरों के समय तीन प्रकार की दण्डनीतियाँ प्रचलित थीं—

1. **हाकार दण्डनीति** — अपराधी को डाँटकर या फटकारकर समझाना।
2. **माकार दण्डनीति** — अपराधी को भय या चेतावनी देकर अपराध से रोकना।
3. **धिक्कार दण्डनीति** — अपराधी के कार्य की निन्दा या भर्त्सना करके उसे सुधारने का प्रयास करना।

इन दण्डों का मुख्य उद्देश्य **अपराधी को सुधारना और समाज में व्यवस्था बनाए रखना** था।

जैन परम्परा में **चौदह कुलकरों** का वर्णन मिलता है। इनमें **अन्तिम कुलकर नाभि** माने जाते हैं। नाभि के समय तक मानव समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे और यौगलिक व्यवस्था अपने अन्तिम चरण में पहुँच रही थी। उनके समय से मानव जीवन में एक नए युग का प्रवेश माना जाता है।

जैन परम्परा में नाभि कुलकर का विशेष महत्व इसलिए भी है कि वे **भगवान ऋषभदेव के पिता** माने जाते हैं। **ऋषभदेव को जैन परम्परा का प्रथम तीर्थंकर माना गया है।** इस प्रकार नाभि कुलकर का स्थान कुलकर परम्परा और तीर्थंकर परम्परा के बीच एक महत्वपूर्ण **संक्रमण-बिन्दु** के रूप में दिखाई देता है।

स प्रकार कुलकर व्यवस्था मानव समाज के आदिम और सहज जीवन से संगठित सामाजिक जीवन की ओर बढ़ने का प्रतीक है। कल्पवृक्षों पर निर्भर जीवन के समाप्त होने और मानवीय आवश्यकताओं तथा संघर्षों के बढ़ने के साथ कुलकरों ने समाज को नए नियमों और व्यवस्थाओं से परिचित कराया। चौदह कुलकरों की परम्परा में नाभि अन्तिम कुलकर माने जाते हैं और उनके बाद भगवान ऋषभदेव के माध्यम से मानव समाज में कृषि, श्रम, सामाजिक संगठन और जीवन-व्यवस्था के एक नए चरण का प्रारम्भ माना जाता है। इस दृष्टि से कुलकरों की कथा जैन कालचक्र में प्राकृतिक-सहज जीवन से कर्मप्रधान और व्यवस्थित सभ्यता की ओर मानव के संक्रमण को समझने में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।